प्रथम अध्याय

"हिन्दी साहित्य और दलित जीवन"

(खारेजल का गांव, धरती धन न अपना, मोरी की ईंट, एकलव्य, आग-पानी आकाश के संदर्भ में)

प्रथम अध्याय

"हिन्दी साहित्य और दलित जीवन"

(खारे जल का गांव, धरती धन न अपना, मोरी की ईंट, एकलव्य, आग-पानी आकाश के संदर्भ में)

1. साहित्य और समाज ।
2. साहित्य और समाज जीवन ।
3. समाज की निर्मिती एवं दलित का स्थान ।
4. दलित शब्द की व्याख्या एवं परिभाषा।
   अ) दलित : साहित्यकारों की दृष्टिमें।
   ब) दलित शब्द का संकुचित और व्यापक अर्थ ।
5. दलितों की वर्तमान काल की स्थिति ।
6. दलितोद्धार का कार्य ।
7. समाज सुधारकों का योगदान ।
8. दलितों के विकास में अडसर ।
9. दलित साहित्य की परिभाषा और दलित साहित्य की आवश्यकता ।
10. दलित जीवन में चेतना का निर्माण ।
11. निष्कर्ष ।

प्रथम अध्याय

''हिन्दी साहित्य और दलित जीवन''

प्रस्तावना :- साहित्य मानव जीवन का चित्र होने के कारण उसमें मानव जीवन की विभिन्न घटनाओं की झाँकी दिखाई देती है। मानव जीवन और समाज जीवन का परस्पर अभिन्न संबंध रहा हैं। अत: साहित्य के साथ मानव जीवन और समाज जीवन का संबंध चोली-दामन के समान अटूट है। आज विश्व स्तर पर साहित्य की व्यापक व्याख्या हो रही है। हिन्दी साहित्य भी आज विकासोन्मुखी रहा है अर्थात हिन्दी साहित्य की सभी विधाएं अपने-अपने क्षेत्र में विकसित और उन्नत हो रही है। उन विधाओं में सबसे प्रभावी विधा उपन्यास रही है। उपन्यास एक ऐसी विधा है, जिसमें जीवन का व्यापक फलक चित्रित होता है। आधुनिक काल में ''मानवी जीवन का महाकाव्य'' उपन्यास को माना है। उपन्यास विचारों, भावनाओं, संवेदनाओं का वाहक ही नहीं बल्कि चरित्रों का आख्यान भी है। सामाजिक परिवर्तन और युग परिवर्तन के साथ-साथ उपन्यास भी परिवर्तित हुआ है।

उपन्यास साहित्य में मूल्य संक्रमण, युग-परिवर्तन, नई विचारधारा, बदली हुई सामाजिक व्यवस्था, परिवर्तित मानसिकता और नैतिक मूल्य आदि का चित्रण होता है। दलितों का जीवन चित्रित होना इसका ही प्रमाण है। उपन्यासों में गांव, नगर, महानगर, झुग्गी-झोपड़ी आदि का जन जीवन चित्रित हो रहा है। उनके साथ-साथ समाज से उपेक्षित, पीड़ित, लांछित, अपमानित दलित जीवन को भी चित्रित करने का महत्कार्य उपन्यासकारों ने किया है। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर होने वाला परिवर्तन भी दर्शाया है। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास साहित्य आज भी महत्वपूर्ण रहा है।

साहित्य और समाज का अटूट रिश्ता रहा है जिस प्रकार समाज उन्नत होगा, साहित्य भी उसी प्रकार विकसित होगा, ''साहित्य वस्तुत: जीवन और समाज से भाव सामग्री लेकर अपने शरीर या स्वरूप का निर्माण करता है। अच्छा साहित्य और अच्छा समाज जीवन को समृद्ध और उन्नत बनाता है।''[1] साहित्यकार समाज जीवन का एक अंग होता है। जो देखता है उसी का वह चित्रण भी करता है। सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक एकता में साहित्यकार की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। हिन्दी साहित्यकारों ने उसे निभाया है। दलित, शोषित, किसान, नारी, विधवा नारी, वेश्या, बंधुवा मजदूर आदि सभी वर्गों का यथार्थ चित्रण साहित्य में करके उनकी व्यथा को वाणी देने का प्रयास किया है।

आलोच्य उपन्यासों में दलित, उनका जीवन, उनका होने वाला शोषण, उनका सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन और उनका होने वाला धर्मपरिवर्तन, भौतिक सुविधाओं का अभाव, धीरे-धीरे होने वाला परिवर्तन, दलित और शिक्षित दलितों की बदली हुई मानसिकता आदि को चित्रित किया

है। इसी कारण दलित जीवन और उनका साहित्य में होने वाला चित्रण एक चिंतन का विषय रहा है ऐसा प्रतीत होता है।

1. साहित्य और समाज :-

साहित्य समाज का दर्पण है और मानव जीवन का एक अभिन्न अंग रहा है। इसीलिए साहित्य हमेशा युगीन तथा सामाजिक विशेषताओं को सफलता के साथ प्रतिबिंबित करता है। यद्यपि साहित्य में वैयक्तिक अंश प्रमुख रहता है, क्योंकि वह लेखक की व्यक्तिगत अनुभूतियों तथा विचारों के संप्रेषण का परिणाम होता है। जिसकी सामग्री मानव-जीवन से ही प्राप्त होती है। साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी होने के नाते अपने जीवन-यापन के लिए सम सामयिक समाज पर निर्भर है। आदिकाल से ही साहित्य का आदर्श "सत्यम्, शिवम्, सुंदरम्" की साधना रहा है। साहित्यकार सामाजिक, संस्कृति और उसके विकास के लिये हमेशा प्रयत्नशील रहा है। समाज में साहित्यकारों को अत्यन्त आदर तथा सम्मान प्राप्त होता है।

साहित्य में मनुष्य के सौंदर्य बोध, कर्म और विचार का चित्रण होता है। साहित्य मुद्रण के सांस्कृतिक विकास का महत्वपूर्ण अंग है। ज्ञान, क्रिया और इच्छा के त्रिवेणी संगम को मानव जीवन कहा जाता है। मैथ्यू अर्नाल्ड ने साहित्य को 'जीवन की आलोचना' माना है तो सुप्रसिद्ध आलोचक कॉडवेल ने साहित्य को "समाज रूपी सीपी से उत्पन्न मोती" कहा है। उन्होंने लिखा है कि "साहित्य को समसामायिक समाज को प्रतिबिंबित करने वाली शक्ति के बजाय प्रत्यावर्तित करने वाली वस्तु समझना अधिक समीचीन है। साहित्य सामाजिक जीवन को प्रतिबिंबित करने वाला आईना ही नहीं, बल्कि जीवन को सार्थक बनाने वाला पूरक तत्व भी होता है।"2 साहित्य का जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। साहित्य जीवन की आत्मकहानी है अर्थात साहित्यकार को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया है, जिसमें उनका व्यक्तित्व अभिव्यक्त किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के अंतर में कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ स्थित है, इन प्रवृत्तियों का प्रस्तुतीकरण, अभिव्यंजन, व्यक्तीकरण अन्य चेष्टाओं द्वारा भी होता है, किन्तु उनका चरम्, संयत और अंतिम स्वरूप साहित्य ही है।

किसी भी समाज के समग्र अध्ययन में उसकी साहित्यिक संपदा का अध्ययन एक दृष्टि से इतिहास, सामाजिक व्यवस्था, आचार-विचार आदि के अध्ययन से भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि साहित्य हमेशा सम्बद्ध समाज की बाहरी विशेषताओं की विवरणात्मक जानकारी ही नहीं बल्कि साथ-ही-साथ उस समाज के जीवन दर्शन और सांस्कृतिक पहलुओं की पूर्ण जानकारी भी देता है। साहित्य को समाज का अभिन्न अंग इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह समाज का हुबहू चित्रण प्रस्तुत करता है। साहित्य की निर्मिती समाज से हुई है। इसलिए बिना समाज के साहित्य का निर्माण हो ही नहीं सकता, अर्थात हम कह सकते हैं कि समाज के बिना साहित्य अधूरा है। समाज में जो भी परिवर्तन या बदलाव होते हैं उसका वर्णन भी साहित्य में किया जाता है। समाज में

मनुष्य की भावाभिव्यक्ति परिष्कृत होकर साहित्य का आधार बनती है और साहित्य लिखा जाता है। मनुष्य की सामाजिक अनुभूति समाज के साथ परिवर्तित होती है। प्रत्येक धर्म अथवा सम्प्रदाय के अपने विचार, तौर-तरीके, रीति-रिवाज, विधि-विधान होते हैं तथा संस्कृति एवं मर्यादा होती है जो मानव चेतना की अनुभूति के स्वरूप को प्रभावित करती है। साहित्य व्यक्ति या समाज की अनुभूतियों, भावनाओं, कल्पनाओं और विचारधाराओं का ही रूप है। इसी वजह से साहित्य 'समाज का दर्पण' कहलाता है।

समाज द्वारा परिनिष्ठित आदर्शवाद की भावना से प्रेरित होकर ही उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों में सामाजिक आदर्शवाद को अपनाया है। "प्रेमचंद पहले ऐसे साहित्यकार थे जिन्होंने राष्ट्रव्यापी जनचेतना और समाजवादी, सुधारवादी अवधारणा को व्यापक प्रसार देने के लिए समाज के दलित और शोषित वर्ग की वास्तविक स्थिति को प्रकट किया।"[3] आधुनिक युग में रचनाकार देशभक्ति के साथ-ही-साथ किसान, मजदूर, दलितों का जीवन चित्रित करने लगा। साहित्य, समाज, कला, संस्कृति आदि सभी अंगों में आदान-प्रदान होने के कारण साहित्य समृद्ध बना। साहित्य सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण करके मानवी जीवन को, जीवन गति को प्रभावित करता है। अत: साहित्य सामाजिक परिवर्तन का कारण बना है।

साहित्य सुसंस्कारी होता है, वह अपने लक्ष्य तक पहुँचता भी है। "साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक तथा सुंदर बनाता है। दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन पर संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।"[4] साहित्य मानव जाति का हितैषी और कल्याणकारी है। साहित्य में समाज का प्रतिबिंब होता है। भारतीय समाज विविध वर्णों, जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों के भिन्न भिन्न आचारों-विचारों, संस्कारों, सामाजिक परंपराओं अथवा रूढ़ियों से बना है। यह समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्गों में विभाजित हुआ है। प्रत्येक वर्ण की अपनी परम्परा, धारणा और जीवन शैली रही है। सामाजिक वर्ग के सभी सदस्य अपनी विशिष्ट जीवन शैली को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। अत: वही शैली मानवी आदतें, प्रवृत्ति साहित्य में स्थान प्राप्त कर लेती है।

सामाजिक प्रतिष्ठा और संपत्ति के कारण भारतीय समाज को उच्च, मध्य और निम्न वर्गों में विभाजित किया जाता है। निम्न वर्ग की सेवा पर अन्य वर्ग पलते हैं। भारतीय समाज अनेकता में एकता का प्रतीक है तथा विभिन्न जातियों का समूह है। हिन्दू, मुस्लिम, सिख और ईसाई जातियों के बृहत समुदाय से एवं सभी के पारस्परिक संयोग से भारतीय समाज बना है। अशिक्षित और गरीब समाज पर प्राचीन परंपराओं और रूढ़ियों का प्रभाव रहा है। धार्मिकता और अंधश्रद्धा ने लोगों को प्रभावित किया है। बेगार-प्रथा, दास प्रथा और धार्मिकता की आड़ में लोगों का शोषण हो रहा है। राजनीतिक लोग सत्ता के बल पर, धार्मिक व्यक्ति धर्म एवं पाप-पुण्य के नाम पर, पूँजीपति धन-सम्पत्ति के जोर पर सामान्य जनता का शोषण कर रहे हैं। इसके दर्शन

समाज-व्यवस्था में होते हैं। जिससे भारतीय समाज मृतप्राय-सा बन गया है। "समस्त समाजों का इतिहास दास व्यवस्था से लेकर पूँजीवादी व्यवस्था तक वर्ग संघर्ष का इतिहास है।"[5] यह कथन यहाँ यथार्थ लगता है। राजा, जमींदार, किसान-मजदूरों से प्रथा के नाम पर उपहार लेते थे, यह इसी बात का प्रमाण है।

समाज वह व्यवस्था है जिसके द्वारा व्यक्ति सामुदायिक रूढ़ि, परम्परा, सभ्यता, विकास तथा मनोभाव व्यक्त करके, दूसरों के कल्याण के लिये अनुभव को हस्तांतरित करती है, जो एक संस्था है। हर एक साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से तत्कालीन परिस्थितियाँ, युगीन आवश्यकताओं, आकांक्षाओं को वाणी प्रदान करता हैं। भारतीय समाज व्यवस्था, विवाह, नारी स्थिति, सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन, समाज सुधारकों का कार्य एवं परिणाम स्वरूप परिवर्तन, शोषितों का विद्रोह, और संगठन शक्ति, चेतना जागृति आदि का चित्रण करते हुए आधुनिक भारतीय समाज जीवन की तस्वीर चित्रित करता है।

समाज परिवर्तनीय होता है। भारत देश में अंग्रेजों का आना सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन की दिशा में एक आयाम बना। शिक्षा, संचार, औद्योगीकरण, यातायात के सुधार होने के साथ-ही-साथ जातीयता की दीवारें टूटने लगी। जाती प्रथा की जड़े हिलने लगी, सामाजिक ढाँचा परिवर्तित होने लगा। समाज सुधारकों और साहित्यकारों के साथ-साथ राजनीतिक नेताओं ने भी इसमें सहयोग दिया । जातीय पंचायत का प्रभाव धीमा होने लगा । आर्थिक - औद्योगिकता से लाभान्वित निम्न स्तर के लोग सम्पन्न होने लगे। जातिवाद और सांप्रदायिकता को भी अंग्रेजों ने राजनीतिक लाभ के लिए मजबूत किया। "राष्ट्र के लिये व्यापक निष्ठा के मुकाबले किन्ही भी शूद्र संकीर्ण निष्ठाओं के जगाने को "साम्प्रदायिकता" कहा जाता है।"[6] जातिवाद, सांप्रदायिकता का चित्रण साहित्य में होने लगा। अंग्रेजी शिक्षा से भारत में नये विचारों का बीज बोया गया, जिससे समाज सुधारकों की नयी पीढ़ी देश में पैदा हुई। भारतीय शिक्षित समाज ने अंग्रेजों के रहन-सहन, आचार-विचार, संस्कार और परिवेश का अनुकरण करके आधुनिकीकरण को अपनाया। प्रेमचंद समाज के चित्रकार थे। प्रेमचंद युग हमारे देश पर विदेशियों का पड़े प्रभाव का युग था। हमारे देश पर विदेशियों का शासन होने से अनेक विदेशी स्त्री-पुरूष भारतीय समाज से जुड़े हुऐ थे। साहित्य में भी इसके दर्शन होते हैं। प्रेमचंद द्वारा रचित 'कर्मभूमि' की नेटन-ऍग्लो-इंडियन, 'रंगभूमि' में जॉन सेवक, सोफिया विदेशी जन एवं 'शूद्रा' कहानी का एजेण्ट साहब अंग्रेजी है। प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों में विदेशी लोग भी स्थान पा चुके हैं। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में विविधता के दर्शन होते हैं। परिवर्तित समाज की झाँकी भी दिखाई देती है।

साहित्य की परिभाषा में साहित्य क्या है ? इस प्रश्न पर शताब्दियों से विचार होता आ रहा है। और इसी प्रश्न के उत्तर में साहित्य की संज्ञा को स्पष्ट करने की कोशिश की गई है। यदि आज हम इन परिभाषाओं और लक्षणों को मिलाने का या इकठ्ठा करके समझने की कोशिश करें तो हम उनमें से किसी एक निर्णय अथवा

निश्चय पर पहुँचने में असमर्थ पाएंगे। पहली बात तो किसी वस्तु का अंतिम रूप का परिचय देना मुश्किल ही नहीं असंभव होगा। दूसरी बात यह है कि साहित्य तो अजस्र और विविधता का स्रोत है। और जिसके कारण उसे किसी भी प्रकार की सीमा के अंतर्गत रखना असंगत होगा, परंतु अध्ययन की दृष्टि से कुछ हद तक सुविधाजनक प्रतीत होगा। अत: अतीत और वर्तमान दोनों ही कालों में साहित्य की अनेक विचारकों, संशोधकों, दार्शनिकों, साहित्यकारों ने अनेक प्रकार से परिभाषाएं की हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख करना यहाँ असंगत नहीं होगा।

सामान्यत: लोक कल्याण से संबंधित रचनाएं 'साहित्य' है। साहित्य में सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् की भावना निहित होनी चाहिए। शब्द अर्थ से बनी रचना को 'साहित्य' कहा जाता है। सामान्य मानव जीवन का दर्शन कराने वाली रचना को 'साहित्य' कहते हैं। साहित्य सिर्फ मनोरंजन का साधन ही नहीं है बल्कि सामाजिक जीवन का प्रतीक भी है। समाज में उत्पन्न होने वाले विचार, भाव, बदल, आंदोलन, परिवर्तन सभी का दर्शन 'साहित्य' में होता है। मानव जीवन की झांकी का चित्र 'साहित्य' होता है। साहित्य का शरीर शब्द है तो आत्मा मनुष्य की वाणी है। डॉ. बदरी प्रसाद ने साहित्य के विषय में लिखा है - ''वही साहित्य सफल है, जो शोषित मानवों की पीड़ा, वेदना तथा उनके प्रति किये गये शोषण और अन्याय का पर्दाफाश कर सके, मेहनतकश मजदूरों की आवाज को बुलन्द कर सके।''[7] आधुनिक काल में राष्ट्रीयता, देशभक्ति, नारी जागरण, महँगाई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, समाज जीवन, सर्वहारा व्यक्ति, नई सभ्यता, नई संस्कृति, सुधार आंदोलन, विधवा-विवाह आदि की ओर ध्यान दिया गया।

उपरोक्त सभी बातों से यह स्पष्ट होता है कि साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से समसामाविक समस्याओं की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित किया और उसे वाणी देने का महत्वपूर्ण कार्य किया। साहित्य में सामान्य मानव के जीवन का भी चित्रण होने के कारण उसे समाज का प्रतिबिंब माना जाता है। साहित्य में समाज एवं मानव जीवन का शोषण, व्यथा, पीड़ा, दर्द, समस्या का यथार्थ चित्रण मिलता है, जिसके फलस्वरूप साहित्य समाज का दर्पण है ऐसा सर्वमान्य हुआ है।

2. साहित्य और समाज जीवन :-

साहित्य और समाज का संबंध अनादिकाल से चला आ रहा है। अध्यात्म रामायण में आदिकवि वाल्मीकी जी ने एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था का चित्रण करके अपने दृष्टिकोण के अनुसार समाज से संबंधित सभी पहलुओं का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि मानव समाज किस मार्ग का अनुसरण करके पूर्णरूप से आत्म संतुष्टि प्राप्त कर सकता है, सुख और आनंद का उपभोग कर सकता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी ''रामचरित मानस'' में अपने काल के सभी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने आराध्य राम के परिवार को और उनके शासित राज्य को आदर्श रूप में उपस्थित किया

है। उपरोक्त बिन्दुओं पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि साहित्यकारों ने साहित्य में आदर्श समाज रचना का स्वरूप चित्रित किया हैं। उनकी रचनाएं सामाजिकता, सामाजिक प्रतिबद्धता और उपयोगिता की दृष्टि से आज भी महान रही है। इन सभी बातों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रमुख कारण साहित्य और समाज का संबंध ही महत्वपूर्ण है।

समाज की रीति-नीति, धर्म-कर्म, वातावरण, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थिति और लोकव्यवहार आदि का साहित्य में चित्रण होता है। साहित्यकार जिस समाज में जन्म लेता है, उसी का प्रतिनिधित्व करता है। अपने आदर्शों की स्थापना अपने समाज के आदर्शों के अनुरूप ही करता है। उसकी रचनाओं से ही उसके मानसिक, बौद्धिक व नैतिक विकास की झलक दिखाई देती है। इससे यह सिद्ध होता है कि साहित्यकार जिस वातावरण में होता है, वहाँ का, उसी समाज का चित्रण करता है और वह समाज सुधार की भावना से प्रेरित होकर एक आदर्श समाज के लिए आदर्श साहित्य की रचना भी करता है। साहित्य में वह कल्पना के जरिए यथातथ्य चित्रण करके उससे परे हट जाता है, और समाज उसके द्वारा दिखाए गये मार्ग पर चलने के लिये अथवा चिंतन करने के लिए मजबूर होता है। उसके द्वारा लिखी गई रचनाएं समाज की भावी पीढ़ी के लिये कालातीत और धरोहर बन जाती है। इसके अतिरिक्त या विपरीत कुछ ऐसे भी साहित्यकार होते हैं जो समाज का यथातथ्य चित्रण करके समाज के सामने कोई भी आदर्श रखने में असमर्थ होते हैं। ऐसे साहित्यकारों को समाज कभी याद नहीं करता और उनकी कृतियाँ या रचनाएं अल्पकाल के लिए रहकर समय की धारा के प्रवाह में बहकर विलीन हो जाती है, अथवा यह कहा जाय कि उनकी कृतियाँ अल्पजीवी बनकर समय के प्रवाह में समाप्त हो जाती है।

साहित्य समाज का प्रतिबिंब है, लेकिन कुछ साहित्य प्रेमी इस प्रतिबिंब में अपनी रसिक प्रवृत्ति के सिवा और कुछ भी नहीं देखना चाहते। वे इस बात का विरोध करते हैं कि साहित्यमें सौंदर्य के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का चित्रण नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनकी दृष्टि में साहित्य केवल मनोरंजन का साधन है न कि उपयोगिता का माध्यम। ऐसे साहित्य प्रेमी रसिकों के बारे में डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है कि - ''यदि रसिक गण दर्पण में अपना प्रतिबिंब देखना चाहते हैं, तो उन्हें साहित्य की परिभाषा बदल देनी चाहिए। परिभाषा बदलने के बाद कहना चाहिए कि साहित्य वह दर्पण है, जिसमें समाज के उन विशेष लोगों की सूरत दिखाई देती है, जो दुपल्ली टोपी लगाये, पान खाये, सुरमा रचाए इस दुनियाँ से दूर नायिका भेद के संसार में विचरण किया करते हैं। इन साहित्य-मर्मज्ञों के हृदय इतने 'सहृदय' हो गये हैं कि जिस बात से चालीस करोड़ जनताके हृदय को ठेस लगती है, वह उनके मर्म को छू भी नहीं पाती। इनका कुसुम-कोमल हृदय नकली गर्मी से उगने वाले पौधों की तरह एक कृत्रिम साहित्य की उत्तेजना पाकर ही विकसित होती है।''[8]

साहित्य और समाज के बारे में विचार करने पर यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। मानव सामाजिक समस्याओं, विचारों तथा भावनाओं का जहाँ वह स्रष्टा है वहीं उससे यह प्रभावित भी होता है। साहित्यकार के व्यक्तित्व की निर्मिती, उसकी अनुभूति और कल्पनाशक्ति सामाजिक देन है। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं, क्योंकि यदि मानव प्रकृति को हम मूल रूप से सामाजिक मानते है तो निश्चय ही वह कला और साहित्य के अनेक उपकरणों द्वारा अभिव्यक्त उसकी भावना और अनुभूति भी मूलरूप से सामाजिकता और समाज की देन है। साहित्य की शक्ति शाश्वत और शास्त्रों की क्षणिक मात्र होती है। अंग्रेज अत्याधुनिक शस्त्रों द्वारा भारत को गुलामी की कड़ी में या दासता की श्रृंखला में इतनी मजबूती से नहीं बांध सके, जितना कि अपने साहित्य के अस्त्र से । हमारे साहित्य के रूप में भी परिवर्तन करने में सफल हो सके। साहित्य से सामाजिक जीवन में शिव की भावना स्थापित होती है। इसके संदर्भ में टॉलस्टाय का कथन विचारणीय है - ''साहित्य का उद्देश्य बौद्धिक क्षेत्र और मानसिक क्षेत्र से उस सत्य की स्थापना करना है, जिसका उद्देश्य मनुष्य मात्र में कल्याणकारी एकता को स्थापित करके भगवान की प्रेमपूर्ण बादशाहत को कायम करना है।''[9] साहित्य में सत्य-शिव-सुंदर की भावना निहित रहती है। यही साहित्य समाज में शाश्वत सत्य की स्थापना करने में सफल रहता है।

प्रत्येक साहित्य में उस युग की युगीन विशेषताएं मौजूद रहती है। किसी भी समाज की सामाजिक परिस्थितियां, उस समाज के साहित्य के स्वरूप निर्धारण का कारण होती है। अंग्रेजी का स्वच्छंदतावादी साहित्य इंग्लैंड में जागृत हुई, मध्य श्रेणी के लोगों की व्यक्तिवादी विचारधारा का परिणाम है। एवं रुस की क्रांति के कारण साहित्य में प्रगतिवादी, साम्यवादी और मार्क्सवादी विचारों का प्रसार हुआ। निःसन्देह साहित्य में सांस्कृतिक तत्व भी विद्यमान हैं। परंतु उन दिनों सामाजिक परिवेश में व्याप्त व्यक्ति और उनके अधिकारों की चर्चा और उसके साथ ही बदलती हुई सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियाँ इस परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं।

साहित्य हमारे अमूर्त और अस्पष्ट भावों को विचार रूप देकर उन्हें परिष्कृत करता है। समाज का नेतृत्व वही कर सकता है जिसके पास परिष्कृत और परिनिष्ठित विचारों की योग्यता हो, और यह सच भी है कि साहित्य के चिंतन और पठन द्वारा ही समाज को सक्षम नेतृत्व की दिशा प्राप्त होती है। जो व्यक्ति विचारशील और कर्तव्यदक्ष होते हैं वे ही समाज परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। साहित्य विचारों को क्रियारूप प्रदान करता है एवं सामाजिक संगठन और जातीय एकता की बृद्धि में भी निरंतर योगदान देता रहता है। हम अपने विचारों को अमूल्य समझते हैं। उन पर हमें गर्व होता है और साहित्यकार हमारे इन्हीं विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसीलिए हम साहित्यकारों को अपने जातीय सम्मान और गौरव के संरक्षक मानकर यथेष्ट

सम्मान देते हैं। शेक्सपियर और मिल्टन पर अंग्रेजों को गर्व है, तो कालिदास, सूरदास और तुलसीदास जैसे जगप्रसिद्ध साहित्यकारों परहमें गर्व है, क्योंकि उनका साहित्य हमें एक संस्कृति और सामाजिकता एवं जातीयता के सूत्र में वांधता है। अपनी किसी सम्मिलित वस्तु पर गर्व करना जातीय जीवन और सामाजिक संगठन का प्राण है। जिस प्रकार के साहित्य की रचना की जाती है, लोगों की मनोवृत्तियाँ कुछ हद तक उसी प्रकार की निर्माण हो जाती है। और उन्हीं के अनुसार ही लोग कार्य करने लगते हैं, इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साहित्य केवल हमारे समाज का दर्पण मात्र न रहकर उसका नियामक और उन्नायक भी होता है।

समाज व्यक्तियों का सामूहिक रूप है, सामाजिकता, सामूहिकता उनकी प्रवृत्ति है। व्यक्ति समाज का घटक है। समाज के कारण व्यक्ति की रक्षा होती है, जो व्यक्ति से समाज विकसित होता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक घटक है। कोई भी लेखक सामान्य मनुष्य से अलग नहीं हो सकता, व्यक्ति की भिन्नता के कारण अनुभूति का प्रकटीकरण सही ढंग से नहीं होता। सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा साहित्यकार संवेदनशील, चिंतनशील और विचारशील होता है। परिणामत: साहित्य के निर्माण में वे सफल होते हैं, अर्थात साहित्य की उत्पत्ति लेखक की अपनी संवेदना, मानसिकता और उन पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से प्रभाव डालने वाले परिवेश से होती है। साहित्यकार अपने परिवेश से प्रभावित होता है। वह अपनी रचना के लिये विषय, वस्तु, भाषा और रूप परिवेश से ही प्राप्त करता है। संक्षेप में लेखक का व्यक्तित्व अपने परिवेश से कभी-भी पृथक नहीं होता।

किसी विशेष क्षणों में व्यक्ति के मनोभावों की तरंगे सभी कगारों को तोड़कर स्वच्छंद रूप में प्रवाहित होती है, तब वह साहित्य का रूप धारण कर लेती है। जब कोई धारा या लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार उससे दूर नहीं रहता और उसकी विकल आत्मा रो उठती है, जिससे साहित्य बनता है, वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक होता है। कभी-कभी रचनाकार को कवि या चित्रकार के समान माना जाता है। लेकिन कई अर्थों में उनसे भिन्न होता है। प्रेमचंद के शब्दों में, ''कवि और चित्रकार काल्पनिक जगत में जी सकते हैं, लेकिन उपन्यासकार और कहानीकार के पैर धरती पर होते हैं।''[10] सुषमा शर्मा का मानना है कि, ''यथार्थ साहित्यकार समाज का सर्वाधिक संवेदनशील प्राणी होता है, इसीलिए उसका साहित्य भी संवेदनशीलता के आधार पर लिखा होता है।''[11] स्पष्ट है कि साहित्य सृजन में सामाजिक परिस्थितियों की उपेक्षा करना नितांत असंभव है।

आजादी के पहले गुलामी के खिलाफ लोगों की मानसिकता को जगाया, तो आजादी के पश्चात देश के विकास के लिये देशवासियों को प्रेरित करने का कार्य साहित्य के माध्यम से साहित्यकारों ने किया। शोषण, सामंतीवाद, पूँजीवाद, औद्योगीकरण, सांप्रदायिकता, मानवतावाद, सामाजिक व्यवस्था आदि से साहित्य

प्रभावित रहा। साहित्यकार पहले विचारधारा से प्रभावित रहता है। पश्चात रचना बनती है। यह विचार धाराएं विश्व के महान दार्शनिकों, समाज वैज्ञानिकों और राजनीतिक चिंतकों के प्रभाव से सारे संसार में फैलती है, दूसरी तरफ हर मुल्क के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में वहाँ के युगधर्मी विचारकों के हाथों इन चिंतनधाराओं को नया रूप मिला है। इस संदर्भ में एक तरफ मार्क्स, सार्त्र, प्रो.शिलर आदि विदेशी विचारकों का प्रभाव यहाँ के रचना दृष्टि पर पड़ा तो दूसरी तरफ महात्मा गांधी, राममनोहर लोहिया, डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर, मानवेन्द्रनाथ राय का भी प्रभाव रहा है।

साहित्य में व्यक्तिगत भावनाओं और अनुभूतियों का वर्णन होता है। वह व्यक्ति समाज, जाति तथा काल की विशेषताओं और परिस्थितियों से प्रभावित होता है। एक प्रतिभा सम्पन्न लेखक अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता हुआ अपने देश और जाति के भूत और भविष्य से संबंधित होता है। इसीलिए उसे 'भविष्यदृष्टा' कहा जाता है। वह अपनी जाति की उन विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करता है जो कि उसे समकालीन और उससे पूर्व के लेखकों में समान रूप से प्राप्त होती है। साहित्यकार की विशेषताएं निरंतर विकसित होते हुए भी साहित्य में समान रूप से विद्यमान रहती है। धर्मप्रधान आध्यात्मिकता भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है। आत्मा की सम्पूर्णता ही भारतीय दृष्टिकोण का लक्ष्य है। इसी आदर्श के अनुरूप हमारे देश की साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन की रचना हुई।

भारतीय जीवन में धर्म का संबंध प्रत्येक क्षेत्र से है। राजनीति, समाज और भौतिक सुख-सुविधा के साधन धर्म के क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। धर्म में संस्कृति, जन्म, मृत्यु, भाग्य आदि संबंधी चर्चाएं होती रही, जिससे साहित्य प्रभावी रहा है। भारतीय साहित्य समाज, धर्म, राजनीति-दर्शन, देशभक्ति आदि को समेटता हुआ परिवर्धित एवं परिवर्तित हुआ । इसके संदर्भ में डॉ. विमल सहस्त्रबुद्धे का कथन है कि - ''साहित्य सामाजिक जीवन की विभिन्न बदलती दिशाओं और गतिविधियों का प्रतिबिंब है।''[12]

साहित्यकारों का विभाजन उनकी रचना और विचारधारा के आधार पर करते हुए कर्ण सिंह चौहान ने कहा है - ''आज तीन प्रकार के लेखक हैं, एक जो सही विचारधारा से जुड़े हुए हैं, दूसरे वे जो वर्ग संघर्ष में शोषित वर्ग के पक्ष में जुड़े हुए हैं, तीसरे वे जो विचारधारा और वर्ग संघर्ष दोनों से जुड़े है।''[13] साहित्यकार राजनीतिक विचारधारा से भी प्रभावित रहता है। विजयेन्द्र नारायण सिंह ''राजनीति को साहित्य का नियामक तत्व मानते हैं।''[14] यहाँ पर साहित्यकार सामान्य जीवन, और तत्कालीन परिस्थिति, जनजीवन तथा अन्य घटनाओं से प्रभावित रहता है।

हमारा विचार है कि साहित्य और समाज जीवन का घनिष्ठ संबंध है। साहित्य और समाज एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक के बिना दूसरे का विकास नहीं हो सकता। किसी भी समाज, जाति, काल का सम्यक

अध्ययन करना हो तो तत्कालीन साहित्यकृतियों का अध्ययन करना जरूरी है। साहित्य समकालीन होने के कारण वास्तविक यथार्थ होता है। साहित्यकार पथदर्शक, आलोचक होने के साथ-ही-साथ युग निर्माता भी रहा है। युगनिर्माण की रचनाएं देकर समस्त मानव जाति का कल्याण, हित चाहने वाला साहित्यकार और उनका साहित्य विश्वधर्म निभाता हुआ मानवता की सहायता करने में सफल रहता है, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा।

3. समाज की निर्मिती एवं दलित का स्थान :-

समाज की निर्मिती अनादिकाल से होती आयी है और समाज का साहित्य से संबंध भी बहुत पुराना है। जैसे - जैसे समाज की रचना होती गई वैसे - वैसे साहित्य का सृजन भी होता गया। आदिकाल से लेकर आज तक समाज की जो उत्तरोत्तर प्रगति हो गई है, उसी का चित्रण साहित्य में हुआ है। भारत में अनेक भाषाएं प्रचलित हैं। भाषा को बोली के रूप में समाज अपनाता है। अत: समाज के कारण ही भाषाएं समृद्ध हुई हैं। समाज एक सामाजिक संस्था है। मानव सामाजिक प्राणी होने के नाते वह समाज व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। समाज वह व्यवस्था है जिसमें मानव भाईचारे का संबंध स्थापित करता है। व्यक्तियों के समूह को सामान्यत: 'समाज' कहा जाता है। बीसवीं शताब्दी में विस्तृत मानवता तथा मानव जाति का प्रामाणिक आधार समाज है। समाज वह व्यवस्था है जिसके द्वारा व्यक्ति सामुदायिक व्यवहार, रूढ़ि-परंपरा, सभ्यता, विकास तथा मनोभाव व्यक्त करके दूसरों के कल्याण के लिये अनुभवों को हस्तांतरित करती है, जो एक संस्था है। हर एक साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से तत्कालीन परिस्थितियाँ, युगीन आवश्यकतओं, आकांक्षाओं को वाणी प्रदान करता है। अत: साहित्य में समाज जीवन का यथार्थ चित्रांकन होता है।

भारतीय समाज व्यवस्था वर्णाधिष्ठित एवं धर्म के आधार पर बनी है। जातीयता समाज की नींव है। दलित, हरिजन, पिछड़ी जन जाति, समाज व्यवस्था में रही हैं। वे अज्ञानी, अशिक्षित, अंधश्रद्ध, उपेक्षित, शोषित, पीड़ित, अपमानित, लांछित हैं। समाज का सबसे निचला तबका दलित है। वर्णव्यवस्था में 'शूद्र' का चौथा स्थान है। वर्णाश्रम व्यवस्था में शूद्रों को शक्तिहीन बना दिया। रघुवीर सिंह कहते हैं - ''वर्णाश्रम धर्म के धार्मिक महत्व ने शूद्रों को स्थायी रूप में पराधीन तो बना ही दिया, साथ-साथ उनकी उस रही-सही शक्ति को भी विलीन कर दिया।''[15] यहाँ स्पष्ट है वर्णव्यवस्था के कारण दलित कमजोर, शक्तिहीन बना। समाज में उसकी स्थिति अत्यन्त दयनीय और हीन बनी। द्विजातियों के सेवा कार्य का भार उसके ऊपर था, और वह पूर्ण रूपेण अपनी आजीविका के लिये उनपर निर्भर करता था। उसे 'दास' 'अनार्य', 'कृष्णवर्ण' आदि नाम से संबोधित किया जाता था। अधिकार और कर्तव्य की दृष्टि से समाज में वह अत्यन्त उपेक्षित और निम्न था। ''न उसे वेद पढ़ने का अधिकार था, न यज्ञ करने का, न वह सैनिक बन सकता था, न व्यापार कर सकता था।''[16]

कौटिल्य ने शूद्र का प्रधान धर्म द्विजाति की सुश्रुता बताया है। मनु ने भी इसके सेवा वृत्ति का उल्लेख किया है। उनके अनुसार ईश्वर की ओर से शूद्र का एक मात्र कर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णों की सेवा करना ही प्राचीन धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट किया गया है। अगर किसी कारणवश शूद्र क्षत्रिय और वैश्य की सेवा नहीं कर पाता तो यह किसी स्थिति तक क्षम्य भी था,किन्तु ब्राह्मणों की सेवा करना तो उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। ''वर्तमान जातिवाद प्राचीन वर्णव्यवस्था का परिणाम है। इस जातिवाद ने भारतीय समाज को केवल खंडों में ही विभाजित नहीं किया बल्कि सवर्ण जाति द्वारा निम्न जाति के शोषण को सामाजिक मान्यता भी दी, जिससे समाज विभाजित हुआ। एक अखण्ड समाज की स्थापना नष्ट हो गयी।''[17] इस प्रकार वर्ण व्यवस्था वैदिक धर्म की देन है और शूद्र आर्य और अनार्यों के युद्ध का परिणाम।

दलित वर्ग की लोक संस्कृति एवं लोकगीत का उनके उत्थान एवं संघर्ष में विशेष योगदान रहा है। अंग्रेजी शासन में हिंदी क्षेत्र तथा अन्य क्षेत्रों में दलित वर्ग को जागरण का आवाहन करने वाले लोक कवि, जन कवि एवं समाज सुधारक रहे हैं। इन दलित लोक कवियों एवं गायकों ने दलित मुक्ति संघर्ष की प्रथम ज्योति प्रज्वलित की। मेरठ में झण्डूदास के ख्यालों के प्रकाशन ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश की दलित जातियों में संजीवनी का कार्य किया। दूसरी ओर आर्य समाज ने शुद्धि के लिए भजन, ख्याल आदि लोकगीतों का सृजन किया। ये लोकगायक अपनी भाषा में अपनी संस्कृति का विकास कर रहे थे, तो दूसरी ओर हिंदू समाज और वर्णव्यवस्था के विरोध में दलित मुक्ति संघर्ष को नया मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। लोक कवि एवं गायक श्री लक्ष्मणदास गांव-गांव, शहर-शहर जाकर 'जाटव' जाति को पढ़ने लिखने का आवाहन कर रहे थे।

''जागो जाटव वीरों, क्यों देर लगाओ रे ।
अब शुद्ध बनो पढ़-लिखकर, आगे आ ओरे ॥
हिंदू लगता सबसे मिठ्ठा, मुसलमान है सारा फिक्का ।
सब जुड़ मिलके अपनी चटसाल बनाओ रे ॥''

झण्डूदास, बख्शीदास की भजन एवं ख्यालों की ''जाटव सुधार'' पुस्तक आज तक बहुचर्चित है। जाटव के जीवन, पात्रों का वर्णन करते हुए लिखते हैं -

''कहैं सुनें को जाटव भाई, नहीं समझ में लाते हैं।
कहीं किसी के होय सगाई, बकरे को कटवाते हैं॥
मांस खाय और मदिरा पीकर, कुफ्र मनाते हैं।
चाहे पास न चिलम तमाखू, कर्ज काढ़ के लाते हैं॥
ये तो बात बड़ी हैं खोटी, मंडली को नचवाते हैं।

पदवी इन्हें कौन सी मिलती, कर्ज काढ़कर लाते हैं।।
झण्डू कहैं मिती जब टूटे, दारुण दुखड़ा उठाते हैं।
बख्शीदास की शिक्षा मानों कहते हैं शीश नवाय।।''[18]

इसमें दलित वर्ग की सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की झलक मिलती है। इसमें विरोध एवं संघर्ष के स्वरों के साथ सुधारात्मक प्रवृत्ति भी दिखाई देती हैं। महाराष्ट्र, राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, पंजाब एवं बिहार आदि में इसी प्रकार के लोकगायक एवं लोक कवि दलित वर्ग की सांस्कृतिक अस्मिता को जीवित रखे हुए थे। इन लोक कवियों ने एक ओर तो उपदेश देकर समाज सुधार का काम किया और दूसरी ओर दलित मुक्ति के संघर्ष को सबल अभिव्यक्ति प्रदान की। यह अभिव्यक्ति नई नहीं थी। इसका प्राचीन रूप सिद्ध कवियों एवं निर्गुण संतों की वाणी में है। इन लोक कवियों ने समाज का लोकगीतों द्वारा मनोरंजन भी किया ।

नव बौद्ध आंदोलन का शुभारंभ, 14 अक्टूबर, 1956 से डॉ. आम्बेडकर तथा उनके अनुयायियों द्वारा नागपुर में बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण करने से होता है। इसकी वैचारिक प्रतिक्रिया दलित समाज में अवश्य हुई। दलित मुक्ति संघर्ष को नया अर्थ, नई संस्कृति, नया इतिहास और नया साहित्य प्राप्त हुआ। सन् 1957 में कलकत्ता में ''हमारा समाज'' में 'अम्बेडकर और जातिव्यवस्था' इस आलेख में सत्यबाला तायल ने इस धर्म परिवर्तन पर कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठाएं हैं। हिंदू धर्म में सुधार करने के लिये, आचरण परिवर्तित करने हेतु ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, सत्यशोधक समाज तथा धर्म निर्णय मंडल आदि छोटे- बड़े धार्मिक सम्प्रदाय निर्माण हो गये।

धर्म परिवर्तन पिछड़ी जनजातियों में एक महत्वपूर्ण घटना रही है। अपने ऊपर होने वाला अन्याय, शोषण, दमन से मुक्ति का यह मार्ग माना गया। ''सवर्णों ने अवर्णों के स्पर्श को पाप माना, अपने पास बैठाना अधर्म बताया, परंतु ईसाईयोंने उन्हें सम्मान दे दिया। हिंदुओं के अमानवीय अत्याचार से तंग आकर धर्म परिवर्तन हुआ।''[19] मनुवादी संस्कृति से दूर होकर अपने अस्तित्व के लिये किया गया यह एक क्रांतिकारी कदम है। इसके बारे में अजय चौधरी कहते हैं - ''मनुवादी जातिप्रथा की क्रूर विसंगतियों के शिकार दलितों ने सामूहिक धर्म परिवर्तन किया।'' वे आगे कहते हैं - '' वह धर्म परिवर्तन पिछड़ी योजना के साथ स्वतंत्र सांस्कृतिक पहचान का खुला विकल्प मानकर चल रही है।''[20]

दलितों में हिन्दू जातियों की तरह विधवा, विवाह, डोला या पॉयपूजी या जातीय पंचायतें प्रचलित थी। भारत में अंग्रेजी राज से पहले इन लोगों को घोर दुःख था। उन्हें गांव के बाहर बसने दिया जाता था। ये लोग सिवाय छप्पर या मड़ैया के अपने लिये घर नहीं बना सकते थे। इनकी स्त्रियाँ सोने-चांदी के गहने नहीं पहन सकती थी। ये लोग गेहूँ आदि अन्न और घी, दूध आदि पौष्टिक पदार्थ नहीं खा सकते थे। इन लोगों से महाअधम

और दिन-रात अत्यन्त कठोर सेवा-टहल के काम लिये जाते थे। और उसके बदले में पैसा न देकर खाने के लिए जूठन अन्न और फटे-पुराने कपड़े दिये जाते थे। समाज में इनका घोर अपमान किया जाता था कि यदि इन्हें कोई छू जाता तो उसे कपड़े सहित स्थान करना पड़ता था, इसलिए इनका नाम 'अछूत' रखा गया ।

इस प्रकार समाज की निर्मिती के साथ 'दलित' का स्थान निश्चित किया गया, अर्थात समाज के निर्माण के साथ-साथ दलितों की निर्मिती भी होती गई। दलित समाज व्यवस्था में निचला तबका होते हुए भी महत्वपूर्ण अंग रहा है। उच्च वर्णों द्वारा शोषित यह समाज आज विद्रोह करने वाला जागृत समाज बन रहा है। यह परिवर्तन समाज व्यवस्था को नई दिशा देने का संकेत है। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक आदि सभी अर्थों में दलित समाज आगे बढ़ रहा है, विकासोन्मुखी बन रहा है ऐसा लगता है। आज का दलित समाज अपना अस्तित्व एवं अस्मिता की रक्षा करने का प्रयास कर रहा है। राजनीतिक नेताओं ने भी इसमें अपना सहयोग दिया है और दे रहे हैं ऐसा दिखाई देता है।

4. दलित शब्द की व्याख्या एवं परिभाषा :-

समकालीन साहित्य के रचनाकार एवं समीक्षकों की दृष्टि में ही नहीं अपितु भारतीय संदर्भ में 'दलित' शब्द एक जातिबोधात्मक शब्द के रूप में व्यवहृत हो रहा है। यथा आदिवासियों, जन जातियों तथा आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ी जन जातियों के रूप में है। हम अपने वर्ण, श्रमिक, मजदूर, किसान, हलवाहा आदिवासियों के नाम पर न बनाकर ऐसी जातियों के आधार पर मानते आए है, जो वर्ण-व्यवस्था की कोख से पैदा हुए। फिर भी हमारे यहाँ दलित एक जन्म जात जाति बोधक संज्ञा बना हुआ है। इन जातियों को पृथक-पृथक टुकड़ों में 'दलित' रखने का काम धर्म के इस कर्मकाण्ड ने किया, जिसके अन्दर ऊँच-नीच का भेदभाव रखकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों ने एक बहुत बड़े शारीरिक रूप से उत्पादन एवं सेवा करने वाले मानव समुदाय को अपने समाज से अलग कर दिया था। समाज की तीनों वर्णों के धर्म ने जितना अध्यात्म और दर्शन रचा उससे कहीं अधिक हिंसा, नफरत, पाखण्ड, और जातिवादी अस्पृश्यता ने पैदा किया। यह जातिगत व्यवस्था इस देश के मानस को एक राष्ट्रीय मानस बनाने ही नहीं दिया, और इस राजनीतिक रूप से जब हम अपने आपको देखते हैं तो एक जनतांत्रिक राष्ट्र के वे संस्कार हमारे अंदर नहीं दिखाई देते, जहाँ नागरिकता मनुष्यता का पर्याय बनी हो। और राष्ट्रीयता एकता का सूत्र बनती हो। इसके अलावा हमारे पास राजनीतिक वर्ग भी है और इन वर्गों में व्यक्तिवाद की सत्ता इस प्रकार आरोपित हो चुकी है कि राजनीति के चरित्र को जन-चरित्र के रूप में देखना भी, मुश्किल हो गया है। इसीका परिणाम यह है कि हमारे देश में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से शोषित, उत्पीड़ित, उपेक्षित और शास्त्र एवं शस्त्र के बल पर निरंतर दबाया गया मानव समुदाय आजादी के चार दशकों के बाद भी दलित वर्ग के रूप में मौजूद है।

भारत में दलित शब्द का प्रयोग प्राचीन है। 'दलित' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत धातु 'दल्' से हुई है। विभिन्न शब्द कोषों में दलित शब्द का अर्थ इन रूपों में मिलता है -

'दल' (अक) विकसना, फटना, खण्डित होना, द्विधा होना।

'दल' (सक) चर्प करना, टुकड़े करना, विदारना ।

'दल' (नृप) सैन्य, लष्कर, पत्र, पत्ती। 'दलित' - हृदयं गाणे द्वेगं, द्विधा तु न विधते । (वेदनाओं के कारण हृदय के टुकड़े होते हैं, नाश नहीं)

'दल' - नाश करने, (विनष्ट हुए)।

'दलित' - नाश पावलेला (विनष्ट हुआ) दीन दलित - समानार्थी शब्द ।[21]

'दलित' (संवि) तुडविलेले, चुरडलेले, मोडलेले, हलकी जात ।[22]

अंग्रेजी - डिप्रेस्ड क्लासेस या शब्दास प्रतिशब्द - विनष्ट हुआ।

'दलित' - (वि.सं.) स्त्री दलिता, मसला हुआ, मर्दित, दबाया, रौंदा या कुचला हुआ। खण्डित, विनष्ट किया हुआ।[23]

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने दलित शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है । पस्त हिम्मत, हितोत्साह, अछूत, जनजाति, डिप्रेस्ड क्लास।

डॉ. रामस्वरूप रशिकेश का कथन है - दलित (संस्कृति वि) खण्डित, चूर्डित, मर्दित, अस्पृश्य, अंत्यज, नाशित, ध्वंसित, संस्कृत पुट - नीच, हरिजन ।

दलित शब्द का आशय -

'दलित' - दब + कत = टूआ हुआ, चीरा हुआ, फाड़ा हुआ, कटा हुआ, टुकड़े - टुकड़े हुआ। खुला हुआ, फैलाया हुआ ।[24]

'दलित' - मसला, रौंदा या कुचला हुआ।

'दलित' - विदीर्ण, कुचला हुआ ।

'दलित' - जो दबाया गया हो अथवा जिसे पनपने या बढ़ने न दिया गया हो।

'दलित' - Depressed - Pressed down or situated lower than the general surface.[25]

डॉ. पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी के शब्दों में - "समता के अस्मितादर्शी प्रगतिशील समाज के मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिये संघर्षशील लोग ही 'दलित' हैं। आज पिछड़े वर्ग, अनुसूचित जाति, जनजाति ही अपनी अस्मिता के लिए संघर्षरत हैं।"[26]

वैदिक काल एवं स्मृति काल की वर्णव्यवस्था से 'दलित' शब्द का घनिष्ठ संबंध रहा है। वर्ण व्यवस्था से शूद्र जाति तथा उपजातियों का विकास होता रहा। दास, चांडाल, अस्पृश्य, हरिजन आदि नामों से पुकारा गया। उनके साथ राजसत्ता और समाज ने दु:खद, दुर्व्यवहार किया। भारतीय समाज व्यवस्था में परंपरागत रूप से शूद्र माने गये वर्ण को दलित माना गया।

इस प्रकार दलित शब्द के अंतर्गत, सदियों से सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत उपेक्षित, शोषित, अपमानित, सामाजिक नियमों से बाधित नारी, भूमिहीन लोग, पराश्रित, निराश्रित, विधवा नारी, दास, गुलाम, बंधुआ मजदूर, दीन आदि आते हैं।

अ) दलित : साहित्यकारों की दृष्टि में :-

दलित शब्द की अवधारणा के संबंध में साहित्यकारों एवं विद्वानों में मतभेद है। इस शब्द पर अनेक महानुभावों ने विचार किया है। उनमें से कुछ के विचार इस प्रकार - हिंदी 'दलित' कविता 'दर्द के दस्तावेज' के सम्पादक कवि डॉ. एन. सिंह की मान्यता है कि दलित का अर्थ है, जिसका दलन, शोषण, और उत्पीड़न किया गया हो। सामाजिक, आर्थिक, और मानसिक धरातल पर सम्पूर्ण दलित साहित्य ऐसे ही उत्पीड़ित और शोषित लोगों की बेहतरी के लिए लिखा गया साहित्य हैं। इसलिए वह शब्द विलास नहीं बल्कि आवश्यकता का साहित्य है।

गुजरात प्रान्त के बड़ौदा के विद्वान अध्यापक समीक्षक डॉ. भगवान दास कहार का कहना है कि - 'वस्तुत: दलित या शोषित वर्ग से तात्पर्य है, एक ऐसे वर्ग समूह या जाति विशेष का, अथवा वह जाति जिसके धन, सम्पत्ति, माल, अधिकार एवं श्रम आदि का हरण किसी अन्य सत्ता शक्ति सम्पन्न वर्ग या जाति के द्वारा किया जाता है।

दलित शब्द की व्याख्या करते हुए डॉ. सुमनाक्षर आगे कहते हैं - ''दलित शब्द आक्रोश, चीख, वेदना, पीड़ा, चुभन, घुटन और छटपटाहट का प्रतीक है। श्रीमन् स्वामी बोधानंदजी महास्थविर 'दलित' की परिभाषा करते हुए कहते हैं - ''दलित शब्द का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि अग्रसर हिन्दू जातियों ने और उन्हीं की कुटिल नीति में पड़कर पिछड़ी हिन्दू जातियों ने भी इन बेचारों के समस्त धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि अधिकारों को जो मनुष्य तन धारी होने के कारण उन्हें स्वभाव से ही प्राप्त थे, ऐसा कुचल और दल डाला है कि मनुष्य होते हुए भी उनकी अवस्था कुत्ते, बिल्ली और मक्खी-मच्छर से भी गई बीती हो गई है।''[27]

डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर 'दलित' शब्द के संबंध में कहते हैं - ''दलित यानी अनुसूचित जातियाँ, बौद्धिक कष्ट उठाने वाली जनता, मजदूर, गरीब किसान, खानाबदोश जातियाँ, आदिवासी 'दलित' शब्द की

यह जाति निरपेक्ष व्यापक परिभाषा है। " असल में जिन जातियों को महात्मा गांधी ने 'हरिजन' कहा था, वे ही जातियाँ दलित के नाम से पहचानी गई। लक्ष्मणशास्त्री जोशी के शब्दों में - "दलित मानवीय प्रगति में सबसे पीछे पड़ा हुआ या पीछे ढकेला गया वर्ग हैं। महाराष्ट्र के हिन्दू समाज में महार, चमार, डोम आदि जिन जातियों को गांव से बाहर रहने के लिये बाध्य किया गया और समाज विशेषत: सवर्ण समाज शारीरिक सेवाएं तो लेता रहा, परंतु जीवनावश्यक प्राथमिक जरूरतों से भी जिन्हें जानबूझकर वंचित रखा गया। पशुओं के स्तर पर घृणित जीवन जीने के लिये बाध्य किया गया, उनको अछूत या 'दलित' कहा गया।

सन 1931 में भारत के तत्कालीन गर्वनर द्वारा की गई जनगणना में जातियों के वर्गीकरण के आधार पर दलित जातियों के लिये निम्न अर्थ दिये गये -

दलित जाति उन जातियों को माना है, जिनके साथ शारीरिक स्पर्श होने के फलस्वरूप उच्च जातियों के हिन्दुओं को अपनी शुद्धि करना आवश्यक हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस शब्द को किसी पेशे से सम्बद्ध कर दिया जाए, वरन यह शब्द उन्हीं जातियों के लिये प्रयुक्त होगा, जिनका उदाहरण के तौर पर हिन्दू समाज में अपनी परंपरागत स्थिति के कारण मंदिर में प्रवेश निषिद्ध है या जिनके कुएं अलग हैं या उन्हें पाठशालाओं में नहीं बैठने दिया जाता है, और बाहर ही रहना पड़ता है। या जो इसी प्रकार की उच्च सामाजिक असमानताओं से पीड़ित हैं।"

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर के अनुसार "दलित जातियाँ वे हैं जो अपवित्र होती है। इनमें निम्न श्रेणी के कारीगर, धोबी, मोची, भंगी, बसीर, सेवक जातियाँ जैसे - चमार, डंगारी (मरे हुए पशु उठाने के लिए), सउरी (प्रसूति गृह कार्य के लिये), ढोल, डफली बजाने वाले आते हैं। कुछ जातियाँ परम्परागत कार्य करने के अतिरिक्त कृषि मजदूरी का भी कार्य करती हैं। कुछ दिनों पूर्व तक उनकी स्थिति अर्द्धदास, बंधुआ मजदूर जैसी रही है।

हरिजन दलित अनुसूचित जाति के संबंध में श्री. पुरूषोत्तमदास अग्रवाल कहते हैं - 'हरिजन' जातिव्यवस्था में निहित ऐतिहासिक अन्याय की चेतना को सवर्ण दृष्टिकोण से व्यक्त करने वाला शब्द है। इसमें एक तरह का पश्चाताप का भाव है। 'दलित' करूणा या पश्चाताप को नहीं, बल्कि बेवजह दमन और अपमान का शिकार होने पर स्वाभाविक रोष को व्यक्त करता है। अनुसूचित जाति अंग्रेज प्रशंसकों की देन है।" इसमें निहित सोंच के लिये जातिव्यवस्था की प्रताड़ना की समस्या कुल मिलाकर विशेष अवसर पाने की सनस्या है। दलित वर्ग में जहाँ दलित जातियाँ आती हैं, वहीं उसमें अनुसूचित जन जातियाँ और विमुक्त जातियाँ भी आती हैं। अनुसूचित जातियाँ वे आदिम जातियाँ है, जो आधुनिक सभ्य समाज से दूर प्राय: पर्वतीय स्थलों, या मैदानी भागों में ऐसे स्थानों पर रहना पसंद करती हैं जो अन्य लोगों की बस्तियों से अलग हटकर दूर हो, और स्वेच्छा से

गैर आदिम जातियों से घुलना-मिलना न चाहें। इनका अस्तित्व बहुत प्राचीन है। ये जातियाँ अपनी चिकित्सा अपने ढंग से करती हैं। 1939 में इन्हें सूची बद्ध किया गया। इस समय इन्हें आदिवासी नाम से जाना जाता है। भारतीय संविधान में इन्हें अनुसूचित जनजातियाँ कहा गया है।

ब) दलित शब्द का संकुचित और व्यापक अर्थ :-

हर एक शब्द अनेकार्थीवाची शब्द है, अर्थात प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ निकलते हैं। वाक्य, पद, अर्थ, रूप के अनुसार भाव बदलते हैं। 'दलित' शब्द के अर्थ भी व्याप्ति और संकुचितता के संदर्भ में बदलते रहे हैं। आलोचकों, समीक्षकों ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अर्थ को स्पष्ट किया है ऐसा लगता है।

संकुचित अर्थ :- दलित संज्ञा के बारे में संकुचित या सीमित अर्थ की दृष्टि से सोंचने वालों का कहना है कि अस्पृश्य या हरिजन, आदिवासी ही दलित हैं। जिन्हें युगों से उच्च वर्णियों ने पैरों तले कुचला है। उनका स्पर्श होना भी निषिद्ध माना है, इस संदर्भ में प्रा. केशव मेश्राम का कथन है - "दलित मानवी प्रगति में सबसे पिछड़ा हुआ और दबाया हुआ सामाजिक वर्ग है। 'दलित' याने अनुसूचित जाति, जमात, बौद्ध, सर्वहारी जनता, मजदूर भूमिहीन, गरीब, किसान, भटकनेवाली जमात, आदिवासी है।"[28]

व्यापक अर्थ :- 'दलित' याने शोषित या पिछड़ा दल, ऐसा माना जाता है, परंतु आज विश्व समाज की रचना देखकर दलित का अर्थ बृहद, विशाल बन जाता है। नई समाज व्यवस्था, नई मानव रचना, नई सभ्यता दलित शब्द को नया अर्थ देती है। इसी कारण इसका अर्थ व्यापक, विस्तृत बन गया है। जो इस प्रकार -

उपर्युक्त सभी मत 'दलित' संज्ञा की अतिव्यापकता सिध्द करते हैं। वह संज्ञा विशिष्ट जाति, वर्ण, धर्म और स्थान की श्रृंखला में बद्ध न होकर समस्त विश्व में जहाँ जहाँ शोषित हैं, वहाँ पर लागू होती है 'दलित' के अर्थ और व्याप्ति के संदर्भ में जो मत मतांतर मिलते हैं, वे संगोष्ठियों और दलित साहित्य संमेलनों के अवसर पर व्यक्त हुए हैं। अत: मैं भी इन मतों से सहमत हूँ। दलित साहित्य की व्याप्ति आज प्रसार माध्यम तथा समाचार पत्र आदि भी स्वीकार कर चुके हैं। परंतु इस शब्द का प्रयोग भारत में लगभग सन् 1919 को आरंभ हुआ। पिछड़े वर्ग के आयोग की रिपोर्ट में 'पिछड़ा वर्ग' इस शब्द का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया गया है कि "अंग्रेजी शासन के दौरान अखिल भारतीय स्तर पर दलित वर्ग के लिये अनेक सरकारी निकायों में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था तथा उसी अनुरूप 1991 में सरकारी भाषा में दलित वर्ग सर्वग्राही शब्द बन गया था। जिसमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जन जातियाँ तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लोग शामिल थे। दलित शब्द शूद्रों के लिये प्रयुक्त होता था। सर्वप्रथम फ्रेंच भाषा और बाद में अंग्रेजी शब्द 'डिप्रेस्ड' का उपयोग सरकारी भाषा में इस वर्ग के लिये किया गया था। जिसका हिंदी रूपांतर 'दलित' शब्द के रूप में आया, तथा 'डिस्प्रेड़ क्लासेस' का अर्थ दलित के रूप में सरकारी भाषा में अंगीकृत किया गया। डॉ. प्रभाकर माण्डे अपना विचार व्यक्त करते

हुए कहते हैं कि - "दलित या ऐसे व्यक्तियों का समूह जिनका मनुष्य के नाते जीने का हक छीन लिया है, जन्म से ही जिनके हिस्से इस समाज व्यवस्था में केवल एक ही प्रकार का जीवन आया है। मानव के नाते जिनका मूल्य अस्वीकृत किया गया है, वे दलित हैं।"[29]

दलित शब्द एक व्यापक शब्द है। आधुनिक शूद्र समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा दलित संज्ञा में समाविष्ट है। समाज में प्रचलित धारणाओं के अनुसार तथा शब्द कोशों के अनुसार 'दलित' वह लोग हैं, जिनका दलन किया गया हो, जिन्हें रौंदा गया हो, कुचला गया हो।' आदि काल में मानव विभिन्न दलों में विभक्त था, जिन्हें समूह, टोली, टुकड़ी, गिरोह, जत्था आदि पर्यायवाची नामों से भी जाना गया था। प्राचीन काल में कबीलों का शासन था, और यही कबीले ही 'दल' कहलाते थे। भारतीय गणतंत्रीय परिवेश में इनको गण भी कहते हैं। दल और गण शब्दकोशों की दृष्टि से वे एक ही हैं। दलित शब्द में हमें दल संज्ञा का आभास अधिक दृष्टिगत होता है। हमारी धारणा है कि दल से ही दलित शब्द बना और राजनैतिक विचारधारा के लोग एकसूत्र में बंधकर चुनाव लड़ते हैं या संस्था बनाते हैं। उनमें भी दल शब्द का महत्व दिखाई देता है। जैसे - जनता दल, समाजवादी दल, सेवादल आदि। ठीक यही धारणा दल से बने 'दलित' शब्द में निहित है। दलित शब्द दल से बना है और दलों का संगठित नाम दलित है।

दलित कोई विशिष्ट जाति नहीं है। डॉ. म. ना. वानखेडे की मान्यता है जा-जो शोषित, श्रमजीवी हैं, वह दलित है। प्रभाकर मांडे कहते है - जिनका मनुष्य के नाते जीने का हक छीन लिया वह दलित है। प्रा. केशव मेश्राम मानते हैं, हजारों बरस जिनपर अन्याय हुआ है ऐसे अस्पृश्यों को दलित कहना चाहिए। शंकरराव खरात ने शूद्र, अस्पृश्य, आदिवासी, विमुक्त जाति को दलित संज्ञा दी है।[30] गिरिजन किशोर कहते है, "दलित जाति से नहीं होता तो भी समाज में अपनी अस्वीकृति की पराकाष्ठा पर जी रहा है, वही दलित है।"[31]

भारतीय दलित साहित्य अकादमी के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर 'दलित' शब्द का अर्थ सर्वहारा वर्ग की चीत्कार के रूप में स्वीकार करते हैं। समाज और साहित्य में दलित शब्द महत्वपूर्ण है। दलित शब्द मूक नहीं है। वह अपनी परिभाषा स्वयं उद्भाषित करता है। दलित शब्द प्रेरणा और विद्रोह का पर्यायवाची है। दलित शब्द का एक इतिहास है। वह सामाजिक दर्पण है। सर्वहारा वर्ग की चीत्कार है। दलित का मतलब बौद्ध, कामगार, भूमिहीन, मजदूर, कृषि मजदूर, गरीब किसान, आदिवासी आदि है।[32] दलितशब्द अपनी अस्मिता, स्वाभिमान और अपने गौरवमयी इतिहास पर सोंचने को बाध्य करता है कि हम कौन थे ? क्या थे? क्या हो गये ? यशस्वी कवि श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि ने दलित शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है - "दलित शब्द भाषावाद, जातिवाद और क्षेत्रवाद को नकारता है और पूरे देश को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करता हैं।"[33] इसके अलावा भी ओमप्रकाश वाल्मीकिने "दलित साहित्य को दल एवं समूह का साहित्य

मानकर सर्वहारा वर्ग को साहित्य में उठाने का साहित्यिक प्रवास कहा है।''[34]

दलित शब्दांतर्गत समाविष्ट आशय के अनुसार कुचले हुए शोषित जनों की जीवन कहानी उतनी ही प्राचीन है, जितनी भारतीय हिन्दू संस्कृति पुरातन है। समाज रूपी शरीर में सबसे ऊँचा स्थान ब्राह्मण का है। ज्ञान-दान उसका काम है। उसके निम्न सेवक हैं। रक्षक क्षत्रिय औरउससे निम्न कृषक वैश्य हैं, और सभी के नीचे तल में आधार भूत है शूद्र, जिसका जीवन कार्य सभी की सेवा ही है। डॉ. शंकर पुणतांबेकर उच्च और निम्न वर्ग के जीवन का चित्रण करते हुए कहा है - ''समाज का निचला वर्ग तन से जीना है। वह अपने तन को धन की खातिर खपाता है। उच्च वर्ग की स्थिति इसके विपरीत होती है। अर्थात शूद्र का तन-मन उच्चवर्ग के लिए होता है। और उच्च वर्ग शूद्रों का शोषण करते हैं। सेवा नाम का भद्दा रूप शोषण बन जाता है।''[35] शूद्रों से भी गये बीते अति शूद्र। ऊपर के तीन सोपानों के बोझ से, शोषण से शूद्रों और अतिशूद्रों का शोषित, लांछनीय, निरीह और बहिष्कृत जीवन परिचय, मनुस्मृति ग्रंथ में, जो हिन्दुओं के समस्त धार्मिक ग्रंथों की रीढ़ है।

''ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं, क्षत्रस्य रक्षणम ।
वैरस्य तु तपो वार्ता, तपः शूद्रस्य सेवनम् ।''

ब्राह्मण का ज्ञान यही तप, क्षत्रिय का रक्षा यह तप, वैश्य का व्यापार और ब्राह्मण सेवा यही शूद्र का तप है। मनुप्रणित इस सामाजिक सूत्र में शूद्र, अति शूद्र, कमजोर, शोषित और सबसे दबाया हुआ एक वर्ण है, एक वर्ग है, जिसका सामाजिक स्तर अन्य वर्णों या वर्गों के सामाजिक स्तर से ऊपर उठा नहीं। इसलिए इन्हें दलित साहित्य की कोटि में रखने में कोई कठिनाई नहीं है। भारत में नीच पुकारे जाने वाली करोड़ो अछूतों की शताब्दियों पुरानी दासता और दुर्दशा को देखकर ही उर्दू के प्रसिद्ध कवि डॉ. इकबाल ने लिखा था -

''आह शूद्र के लिये, हिन्दुस्तां गम खाना है।
दर्दे इन्सानी से इस बस्ती का दिल बेगाना है।''

प्राचीन काल में सामाजिक जीवन में बहिष्कृत, निर्दलित लोग थे वे तो शूद्र-अतिशूद्र ही थे। उनके जीवन को ऊपर उठाने का मौका नहीं दिया गया। शूद्रों में निर्वासित और अनिर्वासित ऐसे दो प्रकार हैं। अनिर्वासित शूद्र मन्दिर प्रवेश या रामायण, महाभारत, पुराण आदि के श्रवण से भक्तिमार्गद्वारा आत्मोन्नती साधन के लिए मुक्त थे। परंतु निर्वासित शूद्रों को बहिष्कृत किया जाता था। इन्हें ही बाद में दलित (अस्पृश्य) नाम प्राप्त हुआ।

दलितोद्धारक डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने 'Who were Shudras?' नामक ग्रंथ लिखकर ब्राह्मणी तत्वज्ञान का वास्तविक रंग स्पष्ट किया है। इसके संदर्भ में शंकरराव खरात लिखते हैं - शूद्र, अस्पृश्य, आदिवासी, विमुक्त जमातें और भटकने वाली जमातें एक ही सूत्र में गुंथी हुई होकर वे जन्म, जाति, व्यवसाय,

परंपरागत रूढ़ि और धर्म ग्रंथों द्वारा दूर रखी गई है। इसलिए दलित संज्ञा की व्याप्ति में डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर की कसौटियों के अनुसार 'शूद्रों का वर्ग' भी आता है। इन शूद्रों में ही आज के पिछड़े हुए वर्ग का समावेश हो सकता है।

डॉ. अम्बेडकर ने 'दलित' शब्द की व्याप्ति निश्चित करते समय Depressed classes, Scheduled classes, Harijan servile classes आदि शब्दों का प्रयोग किया है। अस्पृश्य वर्ग के अर्थ बोध के लिये 'डिप्रेस्ड क्लासेस', शेड्यूल्ड कास्ट्स, हरिजन और गुलाम जैसा (दास) वर्ग आदि अलग-अलग नाम प्रयुक्त किये है। अस्पृश्य वर्ग के लिये ये सभी नाम अधिकृत और अनधिकृत रूप में समय-समय पर प्रसंगानुरूप प्रयुक्त किये हैं। भारत सरकार के संविधान में 'शेड्यूल्ड कास्ट्स' ऐसा शब्द प्रयोग है। परंतु यह शब्द प्रयोग 1935 ईसवी के बाद उपयोग में आया। इसके पूर्व 'हरिजन' ऐसा गांधीजी कहते और सरकार की तरफ से 'डिप्रेस्ड क्लासेस' ऐसा कहा जाता था। Untouchables के अंतर्गत सभी 'अस्पृश्य' या 'दलित' समाविष्ट होते हैं। संकुचित अर्थ में 'दलित' शब्द का संक्षेप आशय दलित (Untouchables) शब्द से हिन्दू जाति व्यवस्था का बोध होता है। चमार, मेहतर, भंगी, जैसी उपजातियों को यह शब्द अपने निकटतम कर लेता है।

यहाँ स्पष्ट है कि 'दलित' शब्द से हिन्दू जाति व्यवस्था एवं लोगों के समूह का अर्थबोध होता हैं। 'दलित' शब्द विशिष्ट वर्ग का वाचक है। इससे उपेक्षित जातियों का परिचय होता है। 'दलित' शब्द जाति भेद दिखाता है। अन्याय, अत्याचार की स्थिति दर्शक यह शब्द है। 'दलित' शब्द जातिभेद निर्मूलन अवस्था की ओर न ले जाकर हिन्दू समाज व्यवस्था को जातिव्यवस्था की ओर ले जाता है। 'दलित' यह शब्द कल और आज के दलित (अस्पृश्य) को दिखाता है। कल के विद्रोही और क्रांतिकारी 'दलित' का आशय 'दलित' के गर्भ में कहाँ तक छिपा है, यह देखना भी जरूरी है।

5. दलितों की वर्तमान काल की स्थिति :-

स्वातंत्र्य पूर्व काल में दलितों का जीवन सोचनीय था। परकीयों और उच्च वर्णीय स्वकीयों से उत्पन्न विरोधी वातावरण में समाज परिवर्तनका बेंड़ा हॉकना आसान नहीं था। शोषक, अन्यायी, रूढ़िप्रिय, उच्चवर्ण पर प्रहार करने के लिये उनमें से कई विचारक, समाज सुधारक पैदा हुए। उन्होंने दलितों के शोषण के लिए कारण बने उच्च वर्गों पर चोट करके उनकी हर तरह से आलोचना की और दूसरी ओर दलितों को उनके अधिकारों से परिचित कराने के लिये उन्हें जगाया। उन्हें शब्द प्रमाण नहीं, बुद्धि प्रमाण को अपनाने के लिये प्रवृत्त किया। उन्हें यह भी सिखाया कि जातिभेद, वर्णभेद, ऊँच-नीच का निर्माता ईश्वर नहीं बल्कि मतलबी मनुष्य ही है। समाज सुधारकों एवं महान विभूतियों के समाज सुधार का पथ निर्विघ्न नहीं था। स्वकीयों से उन्हें भला-बुरा सुनना पड़ा। ब्राह्मण द्वेष्टा, धर्म द्वेष्टा जैसे आरोप सहन करने पड़े, तथा समाज द्वारा अपमानित और

लांछित एवं तिरस्कृत होना पड़ा। फिर भी अपने कार्य पर वें डटे रहे, अडिग रहे। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर, महर्षि कर्वे, महात्मा फुले, महात्मा गांधी आदि का कार्य इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र राष्ट्र बना। डॉ. अम्बेडकर के जीवन में धर्म परिवर्तन ऐतिहासिक घटना थी। उन्होंने सन् 1935 में अपने धर्म परिवर्तन की जो घोषणा की थी, उसे सन् 1956 ई. में बौद्ध धर्म की स्वीकृति से पूर्ण किया। डॉ. अम्बेडकर की भाँति कर्मवीर भाऊराव पाटील ने इस काल-संक्रमण शिक्षा के बट-वृक्ष की छाया में दलितों का उद्धार किया। दलितों की दासता से डॉ. अम्बेडकर जी का मन पीड़ित था। उसी प्रकार की पीड़ा अन्य नेताओं के मन में कभी नहीं उठी। स्वातंत्र्य पूर्व काल में कालानुरूप जनजागरण के रूप में अनेक समाज सुधारक निर्माण हुए। उन्होंने मतलबी, स्वार्थी उच्चवर्गीय जनों का पर्दाफाश करके दलितों में स्वत्व भाव जगाया। दलितोद्धार का कार्य अत्यन्त प्रतिकूल था। स्वतंत्रता के पश्चात और राज्य सरकारों ने दलितोद्धार को प्रोत्साहन देने के लिये समय-समय पर अनेक कानून कायदे, नियम पारित किये। पिछड़ी हुई जातियों और आदिम जातियों की आर्थिक कमजोरी को जानकर उनके बच्चों की महाविद्यालयीन शिक्षा केलिए छात्रवृत्ति का प्रबंध बड़े पैमाने पर किया गया। यह एक दृष्टि से उद्धार की सीढ़ी रही।

समाज में अधिकारों की प्राप्ति के साथ उनके उपयोग का ज्ञान भी अवांछनीय नहीं है। उसके साथ उसके उपयोग की कला की जानकारी का भी अवगत होना आवश्यक है। मृतप्राय किसी शरीर को केवल बाह्य आधारपर कहाँ तक खड़ा किया जा सकता है। जब बाह्य आधारों के साथ-साथ उनमें आंतरिक ताकत उत्पन्न होगी, तब वह चेतनामय बनेगा। दलितों को अपने उद्धार का प्रयत्न स्वयं करना चाहिए। दलित जागरण के साथ-ही-साथ संगठन भी महत्वपूर्ण है। तात्पर्य यह है कि दलितों को अपने उद्धार का मार्ग स्वयं खोजना चाहिए और इसके लिए उनमें संगठन होना आवश्यक है। वर्तमान हालत में दलितों को नायक बनाकर, किसी के सामने हाथ न फैलाते हुए, अपनी बलबूते पर स्वउद्धार का यज्ञ करना चाहिए, जिसमें उनके सर्वस्व का समर्पण भी हो सकता है। आज जातिबंधन, धर्मबंधन तोड़ने के प्रयास में मनुष्य स्वयं इन बंधनों में बंधा जा रहा है। इस स्थिति में दलितों को अपने इतिहास का स्मरण रखना चाहिए, अन्यथा इसका अभाव उनके लिए वर्तमान मनुयुग से भिन्न नहीं होगी।

वर्तमान काल में दलितों में परिवर्तन हो रहा है। इसमें दलितों के हितों की रक्षा, सामाजिक उन्नति, समाज अधिकारों की प्राप्ति आदि के लिए प्रबंध किया गया है। भारतीय संविधान के अनुसार सन् 1950 ई. में अस्पृश्यता नष्ट की गई। शिक्षित, बेकार, दलित व्यक्ति को व्यवसाय के लिये बैंकों से कर्ज देने की व्यवस्था की गई। नौकरियों में आरक्षण रखकर दलितोद्धार का कार्य किया गया। इस प्रकार सरकारी उपक्रमों से आज का दलित उत्थान की ओर बढ़ रहा है। साहित्यकार समाज की नब्ज होता है। अत: जो समाज या राष्ट्र

जितना सुसंस्कृत होगा, उसका साहित्य भी उतना ही संस्कारित होगा। समाज के रंग-ढंग और दुःख को वह अपनी कलम से चित्रित करता है। एक तरह से जीवन की समग्र व्याख्या साहित्य में सम्मिलित रहती है। आज सहित्य में दलितों की वर्तमान काल की स्थिति का अत्यन्त सूक्ष्मता की दृष्टि से चित्रण हो रहा है। दलितों में धर्मपरिवर्तन से वैचारिक प्रतिक्रिया अवश्य हुई। जिसमें दलित मुक्ति संघर्ष का नया धर्म , नई संस्कृति, नया इतिहास और नया साहित्य प्राप्त हुआ। दलितोद्धार के रूप में भी धर्म परिवर्तन को देखा जा सकता है। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर जी ने दलित संगठन शक्ति के बल पर दलितों में चेतना जागृति लाने का कार्य किया। शाहू महाराज की सहायता से कार्य आगे बढ़ाया।

डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने मनुस्मृतिका प्रतिकात्मक दहन करके सनातनियों का जुल्म, जबरदस्ती, अत्याचार, शोषण, और घातक रूढ़ियों पर आघात किया। इस निषेधात्मक कृति से दलितों में मुक्ति जीवन की अनुभूति के लिए चेतना जागृत हुई। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकरजी ने 'प्रथम गोलमेज परिषद' में भारतीय दलितों का प्रतिनिधित्व करके दलितों की माँगे पेश की। इसी तरह द्वितीय 'गोलमेज परिषद' में भी उन्होंने अपनी कुछ शेष माँगे पेश की। इसको वे अपना अधिकार समझते थे। उन्होंने कालाराम मंदिर प्रवेश सत्याग्रह, महाड सत्याग्रह, रामकृष्ण प्रवेश सत्याग्रह आदि से रूढ़िप्रिय हिन्दू समाज को दलितों की बहिस्कृत जिंदगी का नग्न यथार्थ रूप दिखाकर उनके लिए समान हकों की माँग की। उच्च वर्णीय सनातनी हिन्दू मन को दलितों की यातनाएं, दर्दभरी पशुवत हालत पर विचार करके भेदभाव, उच्च-नीच, जात-पात की नीति का त्याग करने के लिए उन्होंने कई बार ललकारा, परंतु यह भेद नीति समाज का स्थायी अंग बनकर ही रही। इसलिए जो धर्म न्याय नहीं करता उसे त्याग देने का विचार शुरू हुआ। सन् 1935 ई. में उन्होंने अपने धर्मांतर की ऐतिहासिक घोषणा की। "मैं हिन्दू रूप में जन्मा हूँ, हिन्दू रूप में नहीं मरूँगा।" यह कथन उनकी मर्मव्यथा स्पष्ट करने में सफल रहा।

हरिजनों ने सवर्ण हिन्दुओं के हाथों बड़े अत्याचार सहे हैं। किन्तु हिन्दू धर्म का परित्याग करके अपनी समस्याओं को हल नहीं कर सके। सवर्ण हिन्दुओं की उपेक्षा और अत्याचारों के कारण बहुत से हरिजन ईसाई या बौद्ध होते जा रहे हैं। अब समय आ गया है कि उन्हें मानव समझा जाए और उनके अधिकार उन्हें दिये जाएं। जिससे की वे लोग सम्मानपूर्वक जी सकें। जातिसूचक नामों का प्रयोग बंद करके उनके प्रयोग करने पर प्रतिबंध लगाना चाहिए। यह भेदनीति हमारे राष्ट्रीय और भावात्मक एकता में बाधक हो रही है। सामाजिक असमानता का एक मुख्य कारण जातीयता है। सरकारी विकास योजना, समाज सेवी संस्था, दलितोद्धार का कार्य करने वाले सामाजिक संगठन, व्यक्तियों के सहयोग से दलित उद्धार हो रहा है। परंतु जब तक स्वयं दलित जागृत नहीं होता, तब तक सही विकास नहीं होगा। यह जब होगा तब यह कहा जाएगा "जाग उठा इंसान"।

6. दलितोद्धार का कार्य :-

प्राचीन काल से ही वर्ण व्यवस्था हिंदू समाज की आधार शिला रही है। किन्तु उसका दुष्परिणाम यह हुआ कि समाज की सर्वाधिक सेवा करने वाला वर्ग हमेशा से ही पिसता रहा है। इसलिए उसे हेय तथा अछूत समझा जाने लगा। उसे आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक अधिकारों से वंचित रखा गया। उसका मंदिर में प्रवेश निषेध हो गया। वह नाम मात्र हिन्दू रह गया। परिणामत: ईसाई मिशनरियों ने इससे लाभ उठाया और अनेक अछूतों को अपने सम्प्रदाय में शामिल कर लिया। समाज सुधारकों ने इस भयंकर परिणाम को देखा और उनके उद्धार का बीड़ा उठाया। गांधीजी ने स्वयं इसके लिये हरिजन आंदोलन चलाया।

भारत में स्वतंत्रतापूर्व काल में दलितों की हीनावस्था में सुधार से दलितोद्धार और दलित जागरण का कार्य चल रहा है। प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति में दलितों को बहिस्कृत और अस्पृश्य माना गया है। दलितों का इमानदारी से, निष्काम भाव से समाज सेवा करना एक मात्र कर्तव्य था। कर्म दलित करते हैं मगर फल कोई और ही लेता था। उच्च वर्णियों द्वारा अपनी प्रतिष्ठा, श्रेष्ठता की रक्षा के लिये छूत-अछूत, उच्च-नीच, पाप-पुण्य जैसे विचारों का आधार लिया गया। दलितों का पशुतुल्य, अमानवीय और बहिस्कृत जीवन बना था। दलितों के दैन्य का कारण हिंदू धर्म ही है। जिसके सहारे हिन्दुओं ने विविध जातियों को वंश परंपरागत अस्पृश्य समझा गया। ऐसे जो दलित है, उनकी संख्या बहुत है। जो समाज में उपेक्षित रूप में विद्यमान हैं। दलितों के ऐसे अन्याय पूर्ण जीवन को अम्बेडकरजी ने वाणी दी। हिन्दू लोग उन्हें स्पर्श करने से अपवित्र होते हैं और शुद्धिकरण विधि अपना कर वे शुद्ध हो सकते है। किन्तु अस्पृश्यों को शुद्ध कर लेने का उनके पास कोई साधन नहीं था। वे जन्म से ही अपवित्र थे तथा जन्मभर अपवित्र ही रहते हैं। उसी अपवित्र रूप में ही मरते हैं। वे जिन बच्चों को जन्म देते हैं वे भी अपवित्र ही कहलाते हैं। वंशपरंपरागत रूप से कलंक की यह बात चली आई है। दलितों के लिए अपनी हीनावस्था से ऊपर उठने का कोई रास्ता नहीं। इनके भाग्य में ही नारकीय यातनाएं लिखी है।

स्पृश्य-अस्पृश्य भेद से दलितों का प्राचीन काल से ही शोषण हो रहा है। दलितों की अपनी छाया ब्राह्मण पर न पड़े इसका ख्याल रखना पड़ा था। शोषक-शोषित, मालिक-सेवक, अमीर-गरीब, ऊँच-नीच का भेद भारत जैसे देश में ही नहीं बल्कि इस धरातल पर ऐसी विषमता सर्वत्र विद्यमान है, परंतु इसका स्वरूप भिन्न है। अमेरिका और अफ्रीका में काले-गोरे का भेद इस बात का प्रमाण है। दलितों पर जब-जब अत्याचार-अन्याय हुआ तब-तब उनके द्वारा मुक्ति के लिए आंदोलन हुए। विद्रोह का ज्वालामुखी धधक उठा और वे न्याय, सम्मान, समानता के अधिकारों की मांग करने लगे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी अपनी लष्कर (सेना) में दलितों को प्रवेश दिया। यह घटना दलितों के सामाजिक जागरण के लिए उपयुक्त रही। दलितोद्धार के इतिहास

में "प्रोटेस्ट" धर्मोपदेशकों का कार्य महत्वपूर्ण है। उन्होंने भारत में पन्द्रहवी शताब्दी में दलितोद्धार के प्रश्न की ओर ध्यान दिया। स्वातंत्र्यपूर्व काल में रूढ़ियों एवं उच्चवर्णियों के विरोध में जाकर कई समाज सुधारकों ने समता तथा स्वातंत्र्य के लिए आंदोलन किये।

स्वातंत्र्यपूर्व काल में दलितोद्धार का प्रश्न उठा था। शोषक, सबल, अन्यायी, रूढ़िप्रिय स्वार्थी वरिष्ठ वर्ग पर प्रहार करने के लिये उनमें से कुछ विचारक, समाज सुधारक आगे आए। उन्होंने दलितों के शोषण की आलोचना की। डॉ. अम्बेडकरजी की भाँति कर्मवीर भाऊराव पाटील इस संक्रमण काल में शिक्षा के वटवृक्ष की छाया में दलितों का उद्धार किया। दलितों के हितों की रक्षा करने और सामाजिक उन्नति के साथ समान अधिकारों की प्राप्ति के लिये कानूनों का प्रबन्ध किया गया। संविधान के अनुसार धर्म, वंश, जाति और लिंग के आधार पर किसी भी नागरिक के संबंध में भेद करना अपराध माना गया। दुकान, सार्वजनिक उपहारगृह, कुएं, पनघट, तालाब, मंदिर सभी के लिये खुले किये गये। संविधान की धारा 17 के अनुसार अस्पृश्यता नष्ट की गई। इस प्रकार 330 और 332 धाराओं के अनुसार पिछड़ी हुई जातियों और आदिम जातियों के लिए संसद और विधान परिषद में सीटें आरक्षित कीगई। धारा 335 के अनुसार पिछड़ी हुई जन जातियों और आदिम जातियों के लिये नौकरियों में सीटें आरक्षित रखी। 1950 से भारतीय संविधान के अनुसार अस्पृश्यता नष्ट की गई। 1955 ई. में केन्दीय सरकार ने अस्पृश्यता नष्ट करने वाला कानून पास किया। इसके अनुसार कानून में दण्ड और सजा का प्रबंध किया गया। इसके साथ ही मंदिरप्रवेश तथा दलित सामाजिक अन्याय निवारक कानून भी पास किये। यहाँ यह स्पष्ट होता है कि सभी कार्य कानून से संभव नहीं होते। कानून एक साधन है। दलितों के उद्धार के लिए कानून किये गये, उनके विकास के साधन जुटाए गये, परंतु इमानदारी से अमल कहाँ तक हुआ, यह सोचना चाहिए व कानून के साथ-ही-साथ मानसिक बदलाव, परिवर्तन एवं समाज मान्यता की आवश्यकता है। समाज के सभी स्तर के लोगों में एकता, समता, मानवता का भाव जब तक निर्माण नहीं होगा, तब तक कानून, विधि व्यवस्था कागज पर रहेगी।

समाज सेवकों में उच्चवर्गी, स्वार्थी, ढोंगी लोगों का पर्दाफाश करके दलितों में स्वाभिमान जगाया। दलितोद्धार का यह महत्वपूर्ण अंग है। पिछड़ी हुई जातियों और आदिम जातियों की आर्थिक कमजोरी को समझकर उनके बच्चों को महाविद्यालयीन शिक्षा के लिये छात्रवृत्तियों का प्रबंध किया गया। सरकारी सहायता, कानूनन सहयोग, राजनीतिक दलों की सक्रियता, समाज सेवी संस्था एवं व्यक्तियों का कार्य आदि के फलस्वरुप दलितों में चेतना जागृति पैदा हो गई ऐसा लगता है। यहाँ स्पष्ट है कि धर्म, जाति, व्यक्ति विशेष के नाम पर विशेष अधिकार के सहारे शोषण होता था। सामाजिक एकता के लिये यही बड़ी समस्या एवं चुनौती है। जब तक सामाजिक समानता नहीं होगी, तब तक एकता, एक सपना ही रहेगा ऐसा प्रतीत होता है।

7. समाज सुधारकों का योगदान :-

सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक चेतना जागृति में समाजसुधारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। भारतीय समाज व्यवस्था एक अनोखी व्यवस्था है। जिसमें विभिन्न धर्म, जाति, पंथ और स्तर के लोग रहते हैं। समाज सुधारकों ने ऐसी समाज व्यवस्था में परिवर्तन लाने की कोशिस की। एक तरफ आजादी का आंदोलन चल रहा था तो दूसरी ओर समाज सुधार की बात चली थी। देश में आजादी और समाज सुधार दोनों दृष्टियों से राजनीतिक नेताओं और समाज सुधारकों ने कार्य किया। महात्मा फुले, महात्मा गांधी, महर्षि कर्वे, विठ्ठल रामजी शिंदे, कर्मवीर भाऊराव पाटील, आगरकर, गोपालकृष्ण गोखले, शाहू महाराज, डॉ. भीमराव अम्बेडकर आदि अनेक देशभक्त समाज सुधारकों ने सामाजिक परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

समाज सुधार में सबसे प्रधान कार्य संतों ने किया। जाति प्रथा, जातीयता, भेदाभेद, अंधश्रद्धा आदि पर प्रहार करके सच्चे धर्म की स्थापना करने की कोशिस की। जाति विहीन समाज रचना, नारी जागरण, शिक्षा आदि पर बल दिया। चाहे कबीर हों चाहे रैदास या महाराष्ट्र के वारकरी सम्प्रदाय के संत भक्त आदि ने यही कार्य किया। लोकभाषा में भक्ति परख पद लिखकर मनुष्य में ही ईश्वर देखने का संदेश दिया। यहाँ से ही मानव धर्म की स्थापना, मानव में समानता की विचारधारा शुरू होती है। संतों की वाणी से प्रेरणा लेकर समाज सुधारकों ने अपना कार्य शुरू किया। ''समाज व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए वैचारिक मूल्यों में संघर्ष होना अनिवार्य है। जब पुराने मूल्य और नये मूल्यों के बीच संघर्ष होगा, तब नये मूल्य स्थापित होंगे और समाज व्यवस्था में परिवर्तन आयेगा।''[36] उन्होंने दलित, अछूत, उपेक्षित जाति के लिये शिक्षा व्यवस्था, सामाजिक समानता की मांग की। महर्षि कर्वे, विठ्ठल रामजी शिंदे, दयानंद सरस्वती, ने मानव समानता की स्थापना करने की कोशिश की। दलितों के विकास में महात्मा फुले, महात्मा गांधी, अम्बेडकर और शाहू महाराज का योगदान महत्वपूर्ण हैं। महात्मा फुले ने 'सत्यशोधक' समाज की स्थापना करके समाज परिवर्तन को एक नई दिशा दी। अछूतों के लिए अपना कुआँ खुला करके पानी दे दिया। उसके साथ-साथ नारी शिक्षा और अछूतों की शिक्षा के लिये पाठशालाएँ शुरू की। जिसके कारण समाज में जागृति हो गई। उनका विचार था, जब तक यह समाज शिक्षित नहीं होता, तब तक उनका विकास असंभव है। अशिक्षा ही सभी समस्याओं की जड़ है यही उनकी धारणा थी।

भारतीय राजनीति में गांधी जी का विराट व्यक्तित्व अपनी गहरी छाप छोड़ चुका था। उन्होंने दलितों को 'हरिजन' यह नया शब्द दे दिया। जाति व्यवस्था के विरोध में उन्होंने कार्य किया। डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर 'दलितों के मसीहा' रहे। दलित समाज के उद्धार के लिये सबसे अधिक और प्रभावी कार्य अम्बेडकरजी ने किया। जो भोगा, देखा, अनुभव किया उससे प्रभावित होकर ''शिक्षित बनो; संगठित बनो और संघर्ष करो''

यह नारा दे दिया। नाशिक का कालाराम मंदिर प्रवेश, महाड का सत्याग्रह, पुणे करार, दलितों के लिए आरक्षण, और नागपूर में किया गया बौद्ध धर्म स्वीकार आदि सभी घटनाएं दलितों के जीवन में प्रेरणादायी एवं महत्वपूर्ण रहीं है। इन घटनाओं के पीछे अपने समाज का उद्धार करना यही एक मात्र लक्ष्य था। भारतीय संविधान ने भी दलितों के विकास के लिए विशेष सुविधाएं उपलब्ध कराने की कोशिश की। आजीवन दलित समाज के उद्धार के लिए वे संघर्ष करते रहे।

आधुनिक काल में महात्मा फुले और डॉ. अम्बेडकर जी के पश्चात समाज सुधारक, दलित समाज का उद्धारक के रूप में राजर्षि शाहू महाराज का नाम गर्व के साथ लिया जाता है। अपने संस्थान में, प्रशासन व्यवस्था में, दलितों को स्थान देने वाला वह आदर्श राजा रहा है। शिक्षा प्रसार के लिये छात्रवृत्ति देना, छात्रावास खुलवाना, पाठशालाएं शुरू करवाना आदि कार्य किया। दलित समाज के उद्धार के लिये तन-मन-धन से कार्य किया।

भारतीय समाज सुधारकों ने ब्रह्मो समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, सत्यशोधक समाज आदि जैसे समाज सेवी संस्थाओं की स्थापना करके समाज में समता, एकता, मानवता की स्थापना करने का प्रयास किया, जिसके कारण भारतीय समाज व्यवस्था की प्राचीन जड़े हिली और नये समाज की स्थापना हो गई। सार्वजनिक स्थल पर भेदा-भेद न मानना, सभी के लिये शिक्षा मुफ्त और अनिवार्य करना, नारी स्थिति में सुधार लाना, दलित समाज में जागरण और चेतना लाना, उनमें अस्मिता जगाना, नारी और दलितों में अपने हक के प्रति जागृति पैदा करना आदि विभिन्न आयामों में कार्य आरम्भ किया। समाजसुधारकों के साथ-साथ साहित्यकारों ने भी अपना योगदान दे दिया। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा समाज सुधार का कार्य हुआ। गांधी की 'हरिजन', अम्बेडकर की 'बहिष्कृत भारत', आगरकर का 'सुधारक' आदि पत्रिकाओं ने कार्य किया।

यहाँ स्पष्ट है दलित चेतना, दलित संगठन, दलित मुक्ती, दलित नारी, दलितों की शिक्षा व्यवस्था, दलितों की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति और उसमें होने वाला परिवर्तन आदि पर समाज सुधारकों ने सोचा और कार्य भी किया। उन्हें अनेक कार्यों में सफलता भी मिली है ऐसा लगता हैं।

8. दलितों के विकास में अडसर :-

भारतीय समाज व्यवस्था का एक अंग दलित है। जब देश के विकास की व्याख्या की जाएगी तब उसमें समाज के सभी स्तर के लोगों के विकास को नापना अनिवार्य है। देश का विकास या समाज का विकास अंततः व्यक्ति के विकास से जुड़ा है। अर्थात जब व्यक्ति का विकास होगा तब समाज का विकास और उसके बाद देश का विकास होगा। यही विकास का सूत्र है। आजादी के बाद भारत सरकार ने देश के विकास के लिये कार्य किया है। विज्ञान, तंत्रज्ञान, औद्योगिक, कृषि, सिंचाई, शिक्षा, रक्षा आदि सभी क्षेत्रों में विकास हुआ। देश के नेता, समाज सुधारक, सेवाभावी संस्था, सेवा भावी व्यक्ति का कार्य और जनता के सहयोग के कारण देश

विकसित बना, परंतु आज पूरे समाज व्यवस्था को देखने के पश्चात यह विकास की धारा कहाँ तक पहुँची है? क्या सभी स्तर के लोग विकास से लाभान्वित है? पिछड़ा, दलित या पहाड़ी इलाके के लोग कहाँ तक विकसित हैं? कितनी विकास योजनाएं उन लोगों तक पहुँची है? आदि कई सवाल चिंतनीय बने हैं।

वर्तमान कालीन दलित समाज व्यवस्था को देखने के बाद ऊपर उठाए गये प्रश्न और भी गहरे बनते हैं। समाज सुधारकों ने समाज सुधार के लिये अभियान चलाया। दलितों के विकास के लिये सामाजिक क्रांति का होना जरूरी है। जगजीवन राम जी के शब्दों में - "जातिवाद और जातिगत भावनाओं के कारण हमारी सामाजिक और आर्थिक प्रगति में बाधा पड़ी है। जातिवाद का शिकार सिर्फ हरिजन ही नहीं हैं। उन्हें अपनी स्थिति सुधारने के लिए सामाजिक क्रांति की शुरूआत करना चाहिए।"[37] समाज विघातक जातीयता के खिलाफ जंग छेड़ा। सांप्रदायिकता को ठुकराया, मानव धर्म का महान मंत्र प्रचारित किया, शिक्षा प्रसार पर बल दिया, नारी अस्मिता को झकझोरा, फिर भी आज दलित समाज कितना विकसित है ? कितना लाभान्वित हो चुका है? यह प्रश्न आज चिंतनीय बना है।

नगर, महानगर, गांव और बस्ती में रहने वाला दलित अलग-अलग ढंग से अपना जीवन जी रहा है। नगरों का दलित गांव में रहने वाले दलितों को अशिक्षित मानकर उनसे दूर होता जा रहा है। पढ़ा-लिखा दलित अपने स्वजाति भाई से अलगाव रख रहा है। यह एक नई मानसिकता दलित समाज में विकृति के रूप में बढ़ रही है। जिसके कारण दलित समाज विकास से दूर है। मुझे ऐसा लगता है, दलितों के विकास में निम्न बातें अड़सर रही हैं -

1. दलित समाज आज भी अज्ञानी है, शिक्षा सुविधा से वंचित है। अज्ञान के कारण यह समाज विकास योजनाओं का फायदा नहीं उठा रहा है। परिणामतः शोषण बढ़ रहा है अर्थात शोषण के मूल में अज्ञान ही रहा है। अज्ञान के बारे में महात्मा फुले जी का कथन महत्वपूर्ण रहा है - "विद्ये विना मति गेली, मति विना नीति गेली, नीति विना गति गेली, गति विना वित्त गेले, वित्त विना शूद्र खचले। इतके अनर्थ एका अविद्येने केले।"[38]

2. अज्ञान के साथ-साथ अंधविश्वास की प्रथा प्रभावी बना है।। दलित अंधश्रध्द है। अपनी प्राचीन परंपरा, रूढ़ि से चिपके रहे हैं। प्राचीन मान्यताओं को त्यागने की उनकी प्रवृत्ति नहीं है। इसी कारण उनके विकास में अड़सर पैदा हो रहा है। अंधश्रद्ध मानसिकता नये विचारों का स्वीकार नहीं करती है, परिणामतः समाज पीड़ित रहा है।

3. अज्ञानी और अंधश्रद्ध दलित समाज में चेतना का अभाव है। अपने अधिकार, अपने हक के प्रति दलित

लोग उदासीन है। जब तक उनमें चेतना और अस्मिता की भावना नहीं जगायी जाती तब तक विकास करना असंभव है। "चेतना सदैव मनुष्य को प्रभावित, उत्तेजित करती रही हैं। जो कुछ नहीं है उसे पाने की चेतना और जो कुछ है उसे बचाने की चेतना"[39] अर्थात दलितों में ऐसी ही चेतना जगाती है।

4. दलित लोगों की मानसिकता कमजोर है। अपनी प्राचीन मान्यता में अटके होने के कारण नई विचारों का वे तुरंत स्वीकार नहीं करते। जब उनमें मानसिक परिवर्तन होगा, विकास के लिये उनकी मानसिकता बढेगी, तभी वे विकास के आयामों का स्वीकार करेंगे ।

5. भारत देश में धर्म और राजनीति का गहरा संबंध है। हर एक धर्म से सम्प्रदाय से, राजनीतिक नेतृत्व उभर रहा है। परंतु दलितों में दलितों के विकास के लिए संघर्ष करने वाले नेतृत्व का आज अभाव लगता है। डॉ. अम्बेडकर जी के पश्चात ऐसा नेतृत्व दिखाई नहीं देता। यह भी एक अडसर है।

6. आज भ्रष्ट चुनावी राजनीति के कारण दलितों को संगठित करने की मतलबी चाल हो रही है। यह समाज इस प्रवृत्ति का शिकार हुआ है। यदि दलितों का नेतृत्व राजनीति फायदे की अपेक्षा अपने समाज के विकास के लिये कार्य करें तो विकास हो सकता है, परंतु ऐसी इच्छा शक्ति का अभाव दिखाई देता है। नेताओं के पास जब ऐसी इच्छा शक्ति बनेगी तब दलित समाज संगठित होकर अपना विकास करेगा।

7. आज का नेतृत्व स्वार्थ रहित होकर निष्पक्ष भाव से सेवा का कर्म करेगा तो समाज का विकास होगा, परंतु आज ऐसे गुणों का अभाव नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों में दिखाई देता है। हर कार्य के पीछे स्वार्थ की भावना रही है। चाहे आरक्षण हो या विकास की योजना, सिर्फ घोषणा होती है और राजनैतिक लाभ देखा जाता है। ऐसी भ्रष्ट राजनीति दलितों के विकास में अडसर है।

8. दलितों के विकास में संगठन का अभाव रहा। डॉ. अम्बेडकर ने दलित संगठन पर बल दिया। सेवाभावी और त्यागी नेतृत्व का निर्माण किया परंतु उनके पश्चात दलितों में संगठन का अभाव दिखाई देता है। सुशीला टांकभोरे के शब्दों में "दलित समाज की विभिन्न जातियों में जब तक आपसी भेदभाव रहेगा तब तक दलित आंदोलन सफल नहीं हो सकेगा। बाबासाहब का सपना तभी पूरा हो सकेगा जब कि संपूर्ण दलित समाज अपने पिछड़ेपन के कारणों को खोजकर परिवर्तन और विकास की दिशा को अपना ले।"[40] आज का दलित समाज बिखरा हुआ लगता है कोई एक राजनीतिक दल दलितों के लिए, उनके संगठन के लिये कार्य नहीं कर रहा है। रिपब्लिकन पार्टी हो या बहुजन समाज पार्टी हो चाहे अन्य दल, जब तक दलित संगठित नहीं होता तब तक उनका विकास होना संभव नहीं रहेगा।

9. अज्ञान, अंधविश्वास के कारण बढ़ती हुई आबादी भी विकास में अडसर लगती है। बढ़ती हुई आबादी के

कारण दलितों के जीवन में भौतिक सुविधाओं का अभाव रहता है। स्वास्थ्य, शिक्षा, यातायात, मनोरंजन के साधनों का अभाव, प्रसार माध्यमों का अभाव आदि के कारण उनका जीवन परंपरागत ढंग से चल रहा है। सरकार की विकास योजनाएं और उनकी जानकारी दलित समाज तक नहीं पहुँच रही है।

10. नशापान की आदत भी उनके विकास में प्रमुख अडसर लगती है।

11. दलितों के विकास के लिये कार्य करने वाले समाज सेवी संस्था, समाज सेवी व्यक्ति का अभाव रहा है। कोई संस्था या व्यक्ति स्वयं दलित बस्ती में जाकर कार्य करने के लिये तैयार नहीं है। यहाँ तक स्वयं शिक्षित नागरी दलित गांव में जाकर दलितों के विकास के लिये कार्य करने के लिये तैयार नहीं ऐसी अवस्था में दलितों का विकास कैसे सम्भव है ? यही प्रश्न है।

अतः हम कह सकते हैं, दलितों में से जब कोई सेवाभावी नेतृत्व डॉ.अम्बेडकरी विचारधारा से प्रभावित होकर निकलेगा तब दलितों का सही विकास होगा। उनके विकास में अडसर हटाएगा और विकास की गंगा दलितों के झुग्गी झोपडी तक पहुँचाएगा। विकास की रोशनी में दलितों का जीवन जगमगाएगा। दलितों का विकास के लिए दलितों को ही आगे बढ़ना चाहिए। जब स्वयं दलित विकास के लिये तैयार होगा तभी उनका विकास होगा। सरकार द्वारा दलितों का विकास होगा परंतु दलितों को स्वयं तैयार होना चाहिए।

9. दलित साहित्य की परिभाषा और दलित साहित्य की आवश्यकता :-

साहित्य मानव समाज को भेदभाव रहित उच्च और श्रेष्ठ जीवन जीने के लिये एक सामाजिक क्रांति की कामना करता है। दलित साहित्य का भी यही लक्ष्य है। दलित साहित्य 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया :' के लोकहित सर्वोदय की कामना करता है। दलित साहित्य भारतीय समाज में स्थित मानवीय मूल्यों के प्रति सजग होकर सामाजिक परिवर्तन की दिशा निर्देश करता हुआ एक नवीन सुगम, सुन्दर समाज निर्माण की कामना करता है। दलित साहित्यकार वैदिक पाखण्डियों द्वारा स्थापित निराधार मानव उत्पत्ति के जन्मना सिद्धान्त का खण्डन करता है। वैदिक स्मृतियों की यह घोषणा कि - "जन्मनाजायते शूद्रम, संस्कारत द्विज इति उच्यते।" अर्थात जन्म से न कोई शूद्र है और न जन्म से द्विज ही। यह वितण्डावाद पाखंडी ब्राह्मणों की एक दुःयोजना है। अपने प्रभुत्व को कायम रखने के लिये आज यही सत्य है कि "जाति-पांति पूछे ना कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।" आज जाति की अपेक्षा ज्ञान को महत्व दिया जा रहा है। इसका कारण सामाजिक चेतना ही है।

आज भारतीय समाज में जन्मना, जांति-पांति, छुआ-छूत, एक कोढ़ के समान है। जो इस समाज को भीतर-ही-भीतर खोखला कर रहा है। इस विनाशकारी संक्रामक वर्गभेद को मिटाने के लिए दलित साहित्यकारों को आगे आना होगा। दलित साहित्यकारों पर चिर संचित कुविचारों को मिटाने का, समाज के नव निर्माण का,

बड़ा उत्तरदायित्व है। "अग्नि अपारे काव्य संक्षारे अविरेन : प्रजापति : थलास्मै रोचतं विश्वं तथैव स: परिवर्तते।" (अग्नि पुराण 337 / 10) कवि सृष्टि करता है। उसे नवीन समाज निर्माण के लिये सामाजिक क्रांति का नेतृत्व करना है।

मार्क्स के मतानुसार - मानव जाति को वर्ण, सवर्ण-अवर्ण, ऊँच-नीच वर्गों में विभक्त करना, साधन सम्पन्न शोषकों के प्रभुत्व का परिणाम है। दलित साहित्यकारों को मानव के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा करने के लिय कटिबद्ध होकर सामाजिक समानता की न्यायोचित व्याख्या और डॉ.अम्बेडकर के सामाजिक दर्शक की परिभाषा करनी होगी। "समाज और राष्ट्र रूपी भवन का शूद्र पैर नहीं राष्ट्र की आधारशिला, मेहनतकश मजदूरों के श्रम सीकर समाज की बुनियाद है। दलित वर्ग राष्ट्र, समाज का मस्तिष्क और हृदय का संचालक है।"[41] सदियों से ब्राह्मण वादियों ने जातिगत शुद्धता के नाम पर धर्म की आड़ में दलितों पर जो जुल्म और अत्याचार किये है, उनके गुनाहों का प्याला लखेज हो चुका है। अब समय आ गया है कि उस जर्जर, कुव्यवस्था में परिवर्तन हो। आज कार्ल मार्क्स के साम्यवाद और ऋषि पेट्रॉक के मानवतावाद, महात्मा गांधी का गांधीवाद और डाक्टर अम्बेडकर के सपनों को साकार करने का समय आ गया है। आज समाज के स्वरूप परिवर्तन के लिये एक क्रांति होगी और उसकी बागडोर दलित साहित्यकारों के हाथों में होगी। अब सामन्ती ब्राह्मणों और अभिजात बाबुओं की बौद्धिक, आर्थिक और छल-प्रपंच की कोई चाल नहीं चलेगी। आज उनकी शतरंजी चाल उनकी आत्मदाह होगी। उनकी कोई सुनियोजित चाल आज दलितों पर नहीं चलेगी।

भारतीय दलित साहित्यकारों का कार्य क्रांतिकारी लेखन द्वारा शोषण और उत्पीड़न से दलित वर्ग की रक्षा करना है। पर दलित लेखन कभी आवेग और उन्माद का नहीं होना चाहिए। उनका लेखन जाति और धर्मगत उत्पीड़न से मानव जाति को आर्थिक और सामाजिक शोषण से त्राण दिलाता है। दलित लेखन यथार्थ का लेखन, सपाट और सरल लेखन है। उनका लेखन न तो काव्यकला कलाके लिए हो और न तो मात्र कला की अभिव्यक्ति के लिए होना चाहिए। दलित साहित्य का उद्देश्य शिवेतर भ्रमते और 'सूर सरि सम हितु जहँ होई' होना चाहिए। तभी दलित काव्य में सत्यं, शिवम् और सुंदरम् तत्व होगा। मुझे लगता है दलित साहित्य को आधुनिक काव्य साहित्य, सौंदर्य तत्व के आधार पर कसना उसके प्रति अन्याय ही होगा। कई आलोचकों ने इसी कसौटी पर दलित साहित्य को नकारा है, परंतु उससे शिवम् कल्याण की कामना होने के कारण मानवतावादी विचारधारा के आधार पर उनका अक्षुण्ण महत्व है।

आज के दलित साहित्य का उद्देश्य सामाजिक विसंगतियों, विषमताओं का नाश करना है। वह अपनी संवेदनात्मक रचना द्वारा सदियों से शोषित, उत्पीड़ित, पददलित, बेजुबान इंसान की जुबान बन गया है। आज का दलित लेखन उत्पीड़ित जनसमुदाय को भय, आशंका, पराजय, निराशा और घुटन से मुक्त कराकर आस्थापूर्ण स्वतंत्र जीवन जीने की प्रेरणा देता है और उनके लोकतांत्रिक मौलिक अधिकारों की रक्षा करता है।

दलित साहित्य, दलित समुदाय की एक सांस्कृतिक पहचान बनाता है। यहाँ पर मैं स्पष्ट करना चाहूँगा कि साहित्य सदा सर्वदा से किसी आग्रह-दुराग्रह से ऊपर उठकर सर्वतोभावेन चिद्-चिद् ब्रह्मानंद सहोदर है। इसलिए दलित साहित्य सामाजिक अन्याय, मानवीय यातनाओं, शोषण और उत्पीड़न से मानवता की रक्षा करने की अपेक्षा रखता है, आलोच्य उपन्यासों में यही भाव रहा है। एक आम धारणा रही है कि दलित साहित्य दलित साहित्यकारों की रचनाएं है। ऐसा कोई दुराग्रह, ऐसा कोई बन्धन साहित्य के लिये कदापि सम्भव नहीं है। कबीर और रैदास, प्रेमचंद और निराला कोई भी दलित रचनाकार हो सकता है। उन्होंने नीति, धर्म और वर्गगत भावना से ऊपर उठकर साहित्य को मानवता के धरातल पर प्रतिष्ठापित किया। 1936 के 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ ही अध्यक्ष पद से मुंशी प्रेमचंद ने दलित साहित्य का विधिवत नेतृत्व किया और तब से आज तक दलित साहित्य लिखा ही जा रहा है।

भारतीय दलित साहित्य अकादमी के अध्यक्ष डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर ने दलित साहित्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'दलित साहित्य, दलितोत्थान का साहित्य हैं। वह साहित्य दलितों, पीड़ितों, शोषितों और असहाय वर्ग के उत्थान और नव विकास की प्रेरणा देता है। ऐसे व्यक्तियों के गौरवमय इतिहास से परिचित कराता है। जो मानवीयता की पहचान कराते हैं। यह वह साहित्य है जो धरती से जुड़े लोगों की समस्या और दुर्दशा से अवगत कराते हुए उनके निराकरण और समाधान का उपाय बताता है। दलित साहित्य एक ऐसा साहित्य है जो सभी तरह की वर्ण-व्यवस्था, जात-पांत, ऊँच-नीच के भेदभाव के दायरे से ऊपर और जिसे धर्म, भाषा और प्रदेश की सीमा में बांधा नहीं जा सकता। यह साहित्य सर्वहारा वर्ग की तरह निश्चल और सरल है। इसके लिये छन्द और अलंकार की अपेक्षा नहीं। यह दलन की वेदना, शोषण की कुढ़न और अन्याय के उत्पीड़न, अत्याचार का रुदन, अपमान की पीड़ा की अभिव्यक्ति है। दलित साहित्य व्यक्ति को भीरु, अकर्मण्य और धर्मांध के स्थान पर जुझारु, संघर्षशील और कर्तव्यशील बनाता है। और उनमें स्वाभिमान, आत्मगौरव जगाकर आडम्बरों को दूर भगाता है। माता प्रसाद के मतानुसार दलित साहित्य केवल दलितों का लेखन नहीं है। बल्कि जिन्होंने भी उनकी पीड़ा का अनुभव करके उन पर साहित्य सृजन किया वह 'दलित साहित्य' है।''[42] कमलेश्वर ने उसे मानवतावादी साहित्य माना, तो राजेन्द्र यादवजी ने अब समय दलित साहित्य का है[43] ऐसा कहकर उसकी उदात्ता स्पष्ट की। धर्मवीर भारती ने दलित साहित्य को कमजोरी नहीं बल्कि शक्ति माना है।[44] यहाँ स्पष्ट है दलित साहित्य एक अनुभूति सम्पन्न अभिव्यक्ति के लिये उभर रहा है। जिससे सामाजिक चेतना, आक्रोश, विद्रोह, व्यवस्था विरोधी भाव चित्रित हुआ है। विशुद्ध मानवता की मांग करने वाला यह साहित्य दलित जीवन की भयावह यातनाओं का खुला चित्रण करता है। इसी कारण समाज के एक गंदे हिस्से को आवाज मिली है। इसी कारण आज इस साहित्य की आवश्यकता है।

दलित साहित्य मेहनतकश धरती पुत्रों की पीड़ा और कराह की अभिव्यक्ति है, उनकी खुशियों में झूमता और मल्हार गाता है। शब्द जाल और छन्द अलंकार से दूर वह निर्मल जल की धारा की तरह स्वच्छ, सादा, शान्त और स्निग्ध होता है। इसके साथ ही अत्याचारी शोषकों के लिए वह आग और बारुद के गोले के समान है। ऐसे सभी साहित्यकार जो दलितोत्थान के लिये रचना करते हैं, वे दलित साहित्यकार कहलाते हैं।

दलित साहित्यकार के आंदोलन में, दलित साहित्यकारों की नयी-पीढ़ी के नेता या अग्रणी कहानीकार, उपन्यासकार तथा दलित आंदोलन एवं दलित साहित्य से जुड़े साहित्यकार हैं। दलित साहित्य वह विचार है जो मानव को प्रतिष्ठित करता है, मानव का देवधर्म, देश से भी उच्च स्थान पर प्रस्थापित करता है। यही वह विचार है जो आज के युग के साथ मेल खा सकता है तथा आवश्यक भी लगता है। दलित साहित्य के पीछे परम्परागत जाति भावना की प्रेरणा नहीं है। वह निरा साहित्य भी नहीं। वह वर्तमान युग और वर्तमान समाज की पृष्ठभूमि पर स्थित है। दलित साहित्य निर्माण क्षम कलाकार का विचार है। दलित साहित्य का केंद्र बिन्दु है मानव। मानव के इर्द-गिर्द वह घूमता है, उसकी राय में मानव महान है। मानव प्रकृति की छोटी प्रतिभा है और गतिशील रहना, सृजनशील रहना, प्रकृति का नियम है। दलित का मतलब है अनुसूचित जाति, बौद्ध कामगार, भूमिहीन मजदूर, कृषि मजदूर, गरीब किसान, खानाबदोश जातियाँ, आदिवासी और नारी समाज। दलित साहित्य की विचार प्रणाली मात्र संकुचित जातिवादी, मनोवृत्ति में अपनी परंपरागत साम्प्रदायिक, किताबी विचार प्रणाली न होकर वर्तमान युग की माँगों से उत्पन्न मानव के प्रति आस्था रखने वाले विश्वजनीय विचार प्रणाली है।

आज का दलित साहित्य मुख्य रूप से दलित युवकों के सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, बौद्धिक उद्रेक और अनुभूतियों में से गुजरता हुआ विकास की दिशा में अग्रसर हो रहा है। वह विशेष जातियाँ धर्म में बद्ध नहीं है। मराठी के दलित लेखक वानखेडे कहते हैं - "नीग्रो समाज एवं लेखक की ही तरह दलित लेखक भी भलीभांति समझ चुका है कि दया की भीख मांगकर जिया नहीं जा सकता, कि विद्रोह किये बगैर दायरा नहीं टूटेगा और इसीलिए अब उसने अपनी आजाद कलम उठायी है, वह अपने क्रोध को अपनी अभिव्यक्ति देने लगा है। कोड़ों का प्रयोग किये बगैर, विद्रोह का झंडा फहराए बगैर ये सीमाएं नहीं टूटने वाली।"

मुझे लगता है कि साहित्य के द्ववारा सामाजिक क्रांति के लिए, मानव की वैचारिक प्रवृत्ति में, दृष्टिकोण में, विचार दर्शन में परिवर्तन लाने के लिये और सामाजिक नव-निर्माण का पथ-प्रशस्त करने के लिये आज दलित साहित्य की नितांत आवश्यकता है। और आवश्यकता इस बात की भी है कि दलित साहित्यकार आपस में मिल बैठकर अपनी समस्याओं का निदान अपने द्वारा लिखे गये साहित्य के माध्यम से करें।

10. दलित जीवन में चेतना का निर्माण :-

मानव जीवन परिवर्तन का प्रतीक है। परिवर्तन चेतना का प्रमाण है। अर्थात मानवी जीवन में चेतना का होना अनिवार्य अंग है। चेतना के कारण मानवी जीवन विकसित होता है। अत: चेतना शब्द को लेकर काफी विचार हुआ है। चेतना का अर्थ अनुभूति, एहसास।[45] 'चेतन' = चैतन्य / होश में आना / सावधान होना / सोचना / समझना।[46] डॉ. देवेश ठाकुरने - चेतना मानवी जीवन को बनाये रखती है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र जीवंतता का प्रमाण चेतना को माना है। [47] व्यक्ति की चेतना युग चेतना और साहित्य की चेतना बनती है। परिणामत: साहित्य भी चेतित, परिवर्तित बन जाता है। दलित साहित्य का निर्माण इसी बात का सबूत है। अत: इसी चेतना प्रवृत्ति के कारण साहित्य वास्तविक प्रभावी बनने में सक्षम हो जाता है। यही साहित्यकार का धर्म बन जाता है। आज पढ़ालिखा शिक्षित दलित युवक अपनी अस्मिता की रक्षा के लिये सक्रिय बन रहा है तथा यह समाज भी कर्मशील बनकर नया रूप ले रहा है। इसके मूल में दलित समाज में उत्पन्न चेतना ही है।

भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था से उपजी अमानवीयता, समता विरोधी सामाजिक अलगाव वाली विचार धारा में परिवर्तन करके दलितों में आत्म सम्मान जगाना ही दलित साहित्य की मूलभूत चेतना है। डॉ. पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी का कथन है - "दलित शब्द दबाये गये शोषित, पीड़ित, प्रताड़ित अर्थों में जब साहित्य से जुड़ता है तो यह विरोध का, एक नकार का संकेत करता है। यह नकार चाहे व्यवस्था का हो, सामाजिक विसंगतियों, धार्मिक रूढ़ियों, आर्थिक विषमताओं, साहित्यिक परंपराओं, मानदण्डों या सौंदर्य शास्त्र का हो दलित साहित्य नकार का साहित्य है। जो संघर्षों से उपजता है। इसमें समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व का भाव है, जो वर्णव्यवस्था से उपजे जातिभेद विरोधी है। उनकी यह मान्यता है कि दलितों की व्यथा, पीड़ा, शोषण का बखान करना दलित चेतना नहीं है। दलित चेतना का सीधा संबंध सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमिका के तिलस्म को तोड़ना है।"[48] महाराष्ट्रीय साहित्यकार बाबूराव बागुल का कथन है कि - "दलित साहित्य का केंद्र बिन्दु मानव है, जो मनुष्य को देश धर्म से भी उच्च स्तर पर रखता है। इसमें सामाजिक दर्द, जातिवाद की पीड़ा, शोषण और उत्पीड़न है। इसमें आत्मवाद, ईश्वरवाद के विरुद्ध विद्रोह की प्रेरणा है।" जयप्रकाश कर्दम ने दलित साहित्य को 'वर्णव्यवस्था के खिलाफ शोषण और असमानता के खिलाफ, धार्मिक परंपरागत रूढ़ियों व आडम्बरों के खिलाफ एक मुहिम कहा है।' मोहनदास नैमिश राय ने दलित साहित्य को 'बहुजन समाज के सभी मानवीय अधिकारों एवं मूल्यों के उद्देश्य से लिखा गया साहित्य' माना है। कँवल भारती ने अपना विद्रोह स्पष्ट करते हुए कहती है - "मैं विरोधी हूँ। असमानता का / अलगाव का / नफरत का/ जो धर्मशास्त्र, देवता, महापुरूष सिखाते हैं।" महात्मा फुले ने दलित साहित्य को युग की मांग कहा है। इसे दयानंद बहोही ने इस प्रकार कहा है - "जनमये / आंत में / आग रही है बरस ... / और अंतर में दहक रही है - युग की मांग।"

युगों से प्रताड़ित, शोषित, साहित्य संस्कृति से वंचित दलित चेतना ने अपनी पहचान बनाई है। "ब्रह्म और जीवन के दर्शन में उलझे / मेरे एहसास होने का।" दलित चेतना ने वर्णव्यवस्था के अमानवीय बन्धनों को निर्ममतापूर्वक तोड़ा है। सदियों से नैराश्य, विषमताओं, विसंगतियों और हीन भावना को दलित रचनाकारों ने सफलता पूर्वक, सहजता से तोड़ा है। उनमें अनिवार्य प्रतिबद्धता है। एक रचनात्मक ऊर्जा है। सदियों से दबा आक्रोश जब शब्द की आग बनकर फूटता है तब भाषा और कला की सब परिसीमाएं टूट जाती हैं। सदियों के अंतराल के बाद। समझ में आया । शब्द कितने बड़े शस्त्र होते हैं। इन शब्दों में अपनी साहित्य की चेतना स्पष्ट की है।

भाषा की आक्रमकता और आक्रोश के अतिरेकी तेवर दलित चेतना की शक्ति है। यहाँ काल्पनिक बिम्ब, प्रतिबिम्ब, प्रतीक और मिथक नहीं है। जीवन मूल्यों की खोज और मानवीय सरोकार दलित चेतना की मूलधारा है। दलित चेतना का दूसरा पक्ष है - दलित नारी। यहाँ तक हरवर्ग की नारी हर युगों में दलित रही है। सिद्धान्त में वह देवी है। "यत्र नार्यस्तु पूजयंते रमयी तत्र देवता" की उक्ति है। पर हमारी मानसिकता रही है कि वह भोग्या है। पुरुष प्रधान समाज ने नारी को धार्मिक अफीम खिलाकर अपनी वासनापूर्ति की मूर्ति और बच्चा जनने की मशीन के साथ स्वादिष्ट भोजन बनाकर खिलाने वाली दासी समझा गया है। इस मानसिकता के विरुद्ध डॉ. सुशीला टांकभोरे कहती है - "आनेवाली पीढ़ी घरके चौखट पर से बाहर निकले और हर नारी में छिपी एक भोली लड़की को निडर और आत्म निर्भर बना, उसे उगते अंकुर की तरह जीने दे।" वे कहती है - "ओ शबरी के राम । आँखे चुराकर । संवेदना दिखाना बंद करो । तुम्ही ने तो सीता को धरती में समा जाने को मजबूर किया था। तब से विश्वास और प्रेमभक्ति में पली सीता । बार बार धरती में दफनाई जा रही है। इसलिए पीड़ा की फसलें उगती रही है।

डॉ. मैनेजर पाण्डेय कहते हैं, "भारतीय समाज को समझने के लिए वर्ण और वर्ग को एक साथ समझना होगा। वर्ग का आधार आर्थिक है और वर्ण का आधार आर्थिक और सामाजिक दोनों जीवन के यथार्थ और अनुभवों के बारे में जो दलितों का लेखन होगा, उसमें जो आग होगी, वह गैर दलितोंके लेखन में नहीं होगी।"[49] जैसे - स्त्रियोचित अभिव्यक्ति कोई पुरूष लेखक नहीं कर सकता । महात्मा फुले के शब्दों में - "गुलामी की यातना जो सहता है, वही जानता है। राख ही जानती है जलने का अनुभव और कोई नहीं।" इसी प्रकार गैर दलितों का लेखन, दलित लेखन नहीं होगा। वह केवल सहानुभूति का लेखन । डॉ. एन. सिंह कहते है - "विगत दशक की हिन्दी कविता वाह की नहीं आह की कविता है। इसमें वाग्विलास नहीं, सच की बेखौफ अभिव्यक्ति है, जिसमें कविता ने मिथ्या - मिथकों को तोड़कर आम आदमी की चेतना पर चोट करके उसे जगाने का महत्वपूर्ण काम किया है।" हिन्दी साहित्य में दलित चेतना की अभिव्यक्ति समय की सच्चाईयों से सीधे आँख मिलाकर विषमताओं पर अपनी शक्ति से वार करती है। ये अग्नि आखर दलित समाज को रोशनी प्रदान करते

रहेंगे। आकाश दीप की तरह उसे भटकने से बचाते रहेंगे। डॉ. सी. बी. भारती के शब्दों में - "आओ हम सब मिलकर समता का दीप जलाएं । सोये मुरझाए मनों में भी नई आशा जगाएं।"

अत: स्पष्ट है कि दलित जीवन में चेतनाजगाने का महत्वपूर्ण कार्य दलित साहित्य ने अपनी सशक्त लेखनी के द्वावरा किया है और कुछ समाज सेवी संस्थाओं ने भी चेतना जगाने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। मराठी तथा हिन्दी साहित्यकारों ने दलितों की सोयी हुई चेतना को जगाने का कार्य किया है। कुछ पत्रिकाओं के विशेषांकों के प्रकाशन का भी योगदान है। दलित साहित्यकारों में - मोहनदास नैमिशराय, ओम प्रकाश वाल्मीकि, सोहन पाल सुमनाक्षर, एन. सिंह, कॅवल भारती, जयप्रकाश कंर्दम, दयानंद बटोही, सुशीला टांकभोरे, श्यौराज सिंह, पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी आदि ने दलितों के जीवन में चेतना जगाने का महत्वपूर्ण योगदान है ऐसा लगता है।

अत: स्पष्ट है आज दलित चेतित हो रहा है, उनकी स्थिति मानसिक कमजोरी समाप्त हो रही है। एक जुझारू, विद्रोही दलित सामने आ रहा है। अर्थात दलित जाग रहा है। यही चेतना, परिवर्तन, संक्रमण का प्रतीक है। यही चेतना परिवर्तन का क्रम जारी रहे तो पूरा भारतीय समाज विकसित बनेगा।

11. निष्कर्ष :-

'हिंदी साहित्य और दलित जीवन' के अंतर्गत साहित्य और समाज, साहित्य और समाज जीवन, समाज की निर्मिती एवं दलित का स्थान, दलित शब्द की व्याख्या और उसका संकुचित तथा व्यापक अर्थ, दलितों की वर्तमान काल की स्थिति, दलितोद्धार का कार्य, समाज सुधारकों का योगदान, दलितों के विकास में अडसर, दलित साहित्य की परिभाषा और दलित साहित्य की आवश्यकता स्पष्ट करते हुए दलित जीवन में निर्माण होने वाली चेतना आदि पर विचार किया है।

साहित्य और समाज, साहित्य और मानवी जीवन का परस्पर संबंध रहा है। वही साहित्य शाश्वत होता है, जिसमें मानव जीवन का चित्रण है। ऐसे साहित्य में साहित्यकार की अनुभूति चित्रित होती है। यह सच है कि साहित्यकार समाज जीवन से भाव-सामग्री लेता है और साहित्य कृति का निर्माण करता है। इसी कारण साहित्य मानवी जीवन की वास्तविक तस्वीर लगता है। साहित्य में जीवन चित्रण के साथ-साथ जन चेतना के भी दर्शन होते हैं। समाज, कला, संस्कृति, सभ्यता का परिपाक साहित्य है। इसी कारण साहित्य के माध्यम से समाज सुसंस्कारी होता है।

भारतीय समाज धर्माधिष्ठित और वर्णाधिष्ठित है। धर्म एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें मनुष्य को जोड़ने की शक्ति है, परंतु उसका दूसरा रूप सांप्रदायिकता के रूप में भी निखरता है। भारतीय समाज व्यवस्था में "दलित समाज" एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। प्राचीन काल से इस समाज ने अपना अस्तित्व सुरक्षित रखा है।

वर्ण व्यवस्था के कारण यह समाज शोषित उपेक्षित रहा है। उसका चित्रण आधुनिक कालीन साहित्य में हो रहा है। उनका जीवन आज अनुसंधान और चिंतन का रहा है। इसी कारण प्रस्तुत विषय को लिया है।

साहित्य सिर्फ मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि युगीन विशेषताओं का दर्शन कराने वाला माध्यम है। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक परिवर्तन का लेखा-जोखा साहित्य में लिया जाता है। आज साहित्य में 'दलित साहित्य' नाम की धारा का निर्माण होना इसी बात का ही प्रमाण है। प्रगतिशील और प्रगतिवादी साहित्यकारों ने युग निर्माण और सामाजिक संक्रमणों हेतु इस विधा का विकास किया। इसी कारण आधुनिक युग का साहित्य वर्तमान समाज व्यवस्था का वास्तविक चित्र लगता है।

भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से दलितों एवं शोषितों का चित्रण हुआ है। भक्तिकालीन साहित्य, नाथ-पंथ साहित्य, सिद्ध एवं जैन साहित्य इसका प्रमाण है। लोकगीत, लोककथाओं में भी दलित जीवन का चित्रण हुआ है। झण्डूदास की 'जाटव सुधार' यह रचना इसका उदाहरण है तो रैदास और कबीर के पद इस बात का ही प्रमाण है।

भारतीय समाज व्यवस्था में वर्णव्यवस्था के कारण दलित समाज की निर्मिती हो गई। सबसे निचला तबका या निम्न वर्ग को 'दलित' कहा गया। उपेक्षित, रौंदा हुआ, कुचला हुआ, अविकसित, शोषित, सभी भौतिक सुविधा और विकास से वंचित वर्ग को दलित माना गया। मनु स्मृति और दास स्मृति में भी दलितों की व्यथा चित्रित है। दास, चांडाल, शूद्र, अछूत आदि कई नामों से इस वर्ग को संबोधित किया जाता है। आधुनिक कालीन साहित्य में इस वर्ग का व्यथा-कथा को वाणी देने का कार्य साहित्यकारों ने किया है। आज साहित्य संगोष्ठी के माध्यम से दलित साहित्य के विकास पर चिंतन हो रहा है।

आजादी के साथ-साथ समाज परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हो गई। समाज सुधारकों ने सामाजिक परिवर्तन पर बल दिया तो क्रांतिकारकों ने देश की आजादी को प्रमुख तत्व माना, परंतु ये दोनों भी कार्य बराबर चलते रहे। महात्मा फुले, महात्मा गांधी, शाहू महाराज, डॉ. अम्बेडकर, डॉ.भाऊराव पाटील, आदि ने दलितों के विकास के लिये कार्य किया। अम्बेडकर जी का धर्म परिवर्तन दलितों के जीवन में परिवर्तनकारी घटना रही, जिसके कारण दलितों में अपनी अस्मिता का एहसास हुआ। परंपरागत ढंग से जीवन जीने वाला दलित आज संविधान की सहायता और सरकारी विकास योजना के कारण नई जिन्दगी की अनुभूति ले रहा है। शिक्षा, नौकरी, स्वास्थ्य, भौतिक सुविधा आदि सभी क्षेत्रों में उनका विकास हो रहा है। साहित्यकारों ने इस परिवर्तित दलित जीवन का भी चित्रण अपने साहित्य में किया है। दलित संगठन, दलित एकता, दलित नारी शोषण से मुक्ति और चेतना तथा होने वाला परिवर्तन आदि साहित्य में चित्रित हो रहा है। यह साहित्य सामाजिक क्रांति का संदेश देने वाला रहा है।

समाज सेवकों का कार्य और सरकारी विकास नीति के कारण दलित जीवन विकासोन्मुखी बना है। परंतु पूरा दलित समाज उससे लाभान्वित नहीं हुआ है, ऐसा लगता है। उनके विकास में जो अडसर है उस पर प्रस्तुत अध्याय में सोचा है। जब तक दलित शिक्षित, संगठित नहीं होता, उनका नेतृत्व त्यागी नहीं होता तब तक उनका विकास संभव नहीं, यह सच है कि दलितों का विकास दलित ही करेंगे। इस विकास के लिए, परिवर्तन के लिए दलितों की मानसिक तैयारी होना आवश्यक है। दलित समाज के साथ-ही-साथ गैर दलितों को भी सहयोग देना चाहिए।

आधुनिक काल में साहित्य का विविध मुखी विकास हुआ है। समाज के सभी वर्गों का चित्रण साहित्य में होने लगा। दलित साहित्य का निर्माण इसी बात का प्रमाण है। जिस साहित्य में शोषित, उपेक्षित जन जीवन का चित्रण हो वही साहित्य दलित साहित्य है। चाहे उसका लेखक दलित न हो, परंतु रचना का नायक दलित होना आवश्यक है। सामाजिक क्रांति के लिए दलितों में अस्मिता का एहसास दिलाने के लिये दलित साहित्य की आवश्यकता है। आज के साहित्य के माध्यम से ये कार्य हो रहा है। आज धीरे-धीरे शिक्षित दलितों में अपनी अस्मिता का एहसास हो रहा है। इसका अर्थ है आज का दलित चेतित बन रहा है। संगठन शक्ति के द्वारा अपने अधिकार और हकों की रक्षा करने में दलित सफल रहा है। आरक्षण से लाभान्वित दलित का जीवन आज सुखी व सम्पन्न लगता है। ऐसा दलित अपने गांव में रहने वाले दलितों की तरफ ध्यान दे तो पूरा दलित समाज विकसित होगा, सम्पन्न बनेगा, ऐसा लगता है।

अत: यहाँ स्पष्ट है आधुनिक युग के साहित्य में दलितों का जीवन उनका होने वाला शोषण, उनकी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक स्थिति, उनकी समस्या, उनका धर्म परिवर्तन, उनकी चेतना-शक्ति आदि का चित्रण हो रहा है अर्थात आज का साहित्य दलितों की व्यथा-कथा की करुण कहानी ही है ......।

संदर्भ सूची :-

1) राजेश शर्मा - 125 आधुनिक हिंदी निबंध, 1988, विक्रम प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 13
2) डॉ. पी. एम. थॉमस, ''भारतीय मध्यवर्ग और सामाजिक उपन्यास'', प्र.सं.1995, प्रकाशक जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, पृष्ठ - 15
3) डॉ. सुदेश बत्रा, ''हिंदी उपन्यास बदलते परिप्रेक्ष्य'', 1996, रचना प्रकाशन, जयपुर, पृ.8
4) क्षेमचंद्र सुमन, ''योगेन्द्रकुमार मल्लिक : साहित्य विवेचन'', ती.सं., 1963, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ. 28
5) संपा. सत्यनारायण मोट्टी, ''विश्वज्ञान संहिता कोश - भाग - 1'', 1967, हिंदी विकास समिति, मद्रास, पृ. 312
6) तन सुखराम गुल्म - 125 हिंदी निबंध, 1989, सूर्यप्रकाशन, दिल्ली, पृ.359
7) डॉ. बदरी प्रसाद, ''प्रगतिवादी हिंदी उपन्यास'', प्र.सं.1987, ओम प्रकाशन, दिल्ली, पृ.117
8) रामनाथ शर्मा, ''साहित्यिक निबंध'', सप्तम संस्करण, 1963, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पृ.252
9) क्षेमचंद्र सुमन, ''योगेन्द्र कुमार मल्लिक : साहित्य विवेचन'', तीसरा संस्करण, 1963, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ.6
10) हंस पत्रिका, प्र.सं.1932, अप्रैल, अलका प्रकाशन, कानपुर, पृ.40
11) सुषमा शर्मा, ''उपन्यास और राजनीति'', प्र. सं. 1976, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.25
12) डॉ. विमल सहस्त्रबुद्धे, ''हिंदी उपन्यास में नारी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण'', प्र.सं.1974, पुस्तक संस्थान, कानपुर, पृ.199
13) 'कथन', जुलाई-अगस्त - 1980, (''किसानों और मजदूरों का जीवन्त चित्रण करें'', कर्ण सिंह चौहान), पृ.43
14) 'आकल्प', ''पत्रिका'',प्र.सं.1978, (विजयेंद्र नारायण सिंह, साहित्य का नियामक तत्वे - राजनीतिक चेतना) पृ. 68
15) डॉ. रघुवीर सिंह, ''डॉ. अम्बेडकर और दलित चेतना'', 1999, कामना प्रकाशन, दिल्ली, पृ.146
16) डॉ. मुन्ना तिवारी, ''दलित चेतना और समकालीन हिंदी उपन्यास'', प्र.सं.2001, संजय बुक सेण्टर, वाराणसी, पृ.9
17) विजय कुमार अग्रवाल, ''स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में सामंती जीवन'', प्र.सं.1990, विक्रम प्रकाशन, दिल्ली, पृ.233

18) डॉ. एन. सिंह, "दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम", प्र. सं. 1996, आम प्रकाशन, मुंबई, पृ. 18

19) ए. एन. भारद्वाज, "अस्पृश्यता एवं मानवता", प्र.सं.1987, किताबघर, दिल्ली, पृ.89

20) 'हंस', पत्रिका, दिसंबर - 1999, पृ.59-60

21) डॉ. एन सिंह, "दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम", प्र. सं., 1996, ओम प्रकाशन, बंबई, पृ.18

22) आदर्श मराठी शब्दकोश, प्र.नं. जोशी, 1982, विदर्भ मराठवाडा बुक, पुणे, पृ.513

23) लघु हिन्दी शब्द सागर, संपा. करूणापति त्रिपाठी, संवत - 2034, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. 43

24) डॉ. एन सिंह, "दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम", प्र. सं., 1996, ओम प्रकाशन, बंबई, पृ.19

25) डॉ. बलवन्त साधू जाधव, "प्रेमचंद साहित्य में दलित चेतना", प्र. सं. 1992, अलका प्रकाशन, कानपुर, पृ.17

26) डॉ. एन सिंह, "दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम", प्र. सं., 1996, ओम प्रकाशन, बंबई, पृ.20

27) वही, पृ.5

28) डॉ. बलवन्त साधू जाधव, "प्रेमचंद साहित्य में दलित चेतना", प्र. सं. 1991, अलका प्रकाशन, कानपुर, पृ. 23

29) वही, पृ. 22

30) 'रिसर्च जनरल', जनवरी - जून 2000, पृ.14

31) 'हंस', जनवरी, 1999, पृ.150

32) 'सारिका', 'समांतर कथनी विशेषांक', 7 अप्रैल 1975, पृ. 74

33) डॉ. एन. सिंह, "दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम", प्र. सं. 1996, ओम प्रकाशन, बंबई, पृ. 20

34) 'हंस' पत्रिका', अप्रैल, 1999, पृ. 88

35) संपा. नंदलाल यादव, "देवेश ठाकुर व्यक्ति समीक्षक और कथाकार", प्र.सं.1983, मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.147

36) डॉ. केशव देव शर्मा, "आधुनिक हिंदी उपन्यास और वर्ग संघर्ष", प्र.सं.1991, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ.2

37) जगजीवन राम, "भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या", प्र.सं.1996, राजपाल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.91

38) संपादक पी. बी. साळुंखे, "महात्मा फुले गौरव ग्रंथ", प्र.सं.1982, म. शा. मुंबई, पृ.9

39) 'नवा मापदंङ' (त्रैमासिक) अक्टूबर - दिसंबर - 1999, पृ. 1

40) संपा. जय प्रकाश कर्दम, "दलित साहित्य - 2001", अतिश प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 120

41) डॉ. दयानंद बटोही, ''साहित्य और सामाजिक क्रांति - 2001'', अतिश प्रकाशन, दिल्ली, पृ.31

42) संपा. डॉ. पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी, ''हिंदी साहित्य-रचना और विचार - 2001'', अतिश प्रकाशन, दिल्ली, पृ.11

43) वही, पृ. 7, 8

44) संपा. जयप्रकाश कंर्दम, ''दलित साहित्य - 2001'', अतिश प्रकाशन, दिल्ली, पृ.49

45) अरविन्द कुमार, ''समांतरकोष - हिंदी थिसारस - 1917'', चेतन बुक, दिल्ली, पृ.969

46) सं. नरेन्द्रनाथ बसु, ''हिन्दी विश्वकोश, सप्तम भाग'', बी. आर. पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ.488

47) देवेश ठाकुर, ''साहित्य की सामाजिक भूमिका'', 1989, अरविंद प्रकाशन, मुंबई, पृ.14-15

48) डॉ. दयानंद बटोही, ''साहित्य और सामाजिक क्रांति - 2001'', अतिश प्रकाशन, दिल्ली, पृ.27

49) वही, पृ. 28